प्रकाशक की ओर से

बुद्धिमती तथा धर्मशीला धारिणी के गर्भ से उत्पन्न, चम्पापुरी के महाराज दधिवाहन की एकमात्र पुत्री वसुमति—अपने चन्दनवाला नाम से जैन-साहित्य में बहुत अधिक प्रसिद्ध है। जैन-समाज में, सुप्रसिद्ध सोलह सतियों के बीच, महासती चन्दनबाला का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है। अपनी आदर्श माता धारिणी की सहायता से अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह को अपने हृदय मे धारण कर सती चन्दनबाला ने जीवन-पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था। नारी-समाज को धैर्य, साहस, त्याग, सहिष्णुता और दृढ़ता का ज्ञान कराने तथा उसे उत्थान के पथ पर अग्रसर करने के लिये महासती चन्दनबाला का पवित्र जीवन-चरित्र सरल और सर्वोत्तम साधन है।

और मानवता के उच्च आदर्शों को समक्ष रखकर लेखन-कार्य करने वाले हिन्दी के यशस्वी लेखक श्रीयुत् शान्तिस्वरूप गौड़ द्वारा लिखित—प्रस्तुत पुस्तक 'महासती चन्दनवाला' में यही भावना व्यक्त की गई है। अजैन होते हुये भी श्रीयुत् गौड़ ने अपनी

प्रकाशक
सन्मति ज्ञानपीठ,
लोहामंडी आगरा ।

प्रथम संस्करण
११००
मूल्य ३)

मुद्रक
कपूरचन्द जैन,
महावीर प्रेस, आगरा ।

प्रकाशक की ओर से

बुद्धिमती तथा धर्मशीला धारिणी के गर्भ से उत्पन्न, चम्पापुरी के महाराज दधिवाहन की एकमात्र पुत्री वसुमति—अपने चन्दनबाला नाम से जैन-साहित्य में बहुत अधिक प्रसिद्ध है। जैन समाज मे, सुप्रसिद्ध सोलह सतियों के बीच, महासती चन्दनबाला का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है। अपनी आदर्श माता धारिणी की सहायता से अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह को अपने हृदय मे धारण कर सती चन्दनबाला ने जीवन-पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था। नारी-समाज को धैर्य, साहस, त्याग, सहिष्णुता और दृढता का ज्ञान कराने तथा उसे उत्थान के पथ पर अग्रसर करने के लिये महासती चन्दनबाला का पवित्र, जीवन-चरित्र, सरल और सर्वोत्तम साधन है।

और मानवता के उच्च आदर्शों को समक्ष रखकर लेखन-कार्य करने वाले हिन्दी के यशस्वी लेखक श्रीयुत् शान्तिस्वरूप गौड़ द्वारा लिखित—प्रस्तुत पुस्तक 'महासती चन्दनबाला' में यही भावना व्यक्त की गई है। अजैन होते हुये भी श्रीयुत् गौड़ ने अपनी

हृदयग्राही शैली में सती के चरित्र-चित्रण के साथ-साथ जैन-धर्म की पूर्णरूपेण व्याख्या कर पुस्तक को गृहस्थी साधु आदि सभी के लिये समान रूप से उपयोगी बना दिया है। आशा है—कि विद्वान् लेखक की इस अमूल्य देन से जैन-धर्मावलम्बी तथा अन्य सभी लाभान्वित होने का प्रयत्न करेंगे।

अन्त में श्रीयुत् गौड़ को उनकी इस सुन्दर और उपयोगी कृति के लिये धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

विनीत

रतनलाल जैन मीतल

मन्त्री

श्री सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा।

आदरणीया

महासती उज्ज्वलकुमारी जी

के

पवित्र करों में

सादर

सूची

भूल सुधार

पृष्ठ-संख्या	पक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
८०	१३	अचौर्य	चौर्य
६२	१३	चन्दना	वसुमति

नोट—बहुत ध्यान रखने पर भी यत्र-तत्र कतिपय प्रेस-सम्बन्धी भूलें भी हो गई हैं—कृपया, सुधार कर पढ़ने का कष्ट कीजिये।

चम्पापुरी

१

विशाल देश भारतवर्ष के जिस भू-खंड को आज हम विहार प्रान्त कहकर सम्बोधित करते हैं—सैकड़ों और हज़ारों वर्षों पूर्व, इस प्रान्त का कुछ भाग, आज के भागलपुर के आस-पास का प्रदेश, उन दिनों अगदेश के नाम से प्रसिद्ध था। वर्त्तमान चम्पारन नगर उस समय चम्पापुरी के नाम से पुकारा जाता था। तब, चम्पापुरी धन-धान्य से परिपूर्ण, आदर्श मनुष्यों से भरी-पुरी तथा अगदेश के प्रजा-पालक राजाओं की वैभव-शालिनी राजधानी के रूप में एक प्रसिद्ध नगरी थी। अगदेश के कला-मर्मज्ञ राजाओं और उनकी सुखी प्रजा ने अपनी उस नगरी को बराबर और भरसक प्रयत्न कर खूब सजाया था। अनेक प्रकार की वस्तुओं के व्यापार का केन्द्र होने के कारण चम्पापुरी उन दिनों सभी को अपनी ओर आकर्षित करती थी। वास्तव में, उन दिनों चम्पापुरी का अपूर्व और अनोखा वैभव, दूर और पास के रहने वाले उन सभी को, हठात् अपने पास खींच बुलाता था—और नगरी के कलायुक्त, सरल और सात्विक वैभव को देख कर

और चम्पापुरी के भद्र नागरिक के मुख से निकले हुये ये शब्द विदेशी के मन में गुदगुदी उत्पन्न कर देते। वे उससे बहुत-कुछ कहते। वे उससे कहते—चम्पापुरी केवल देखने मे ही सुन्दर नहीं है, विदेशी। उसकी बोली मे भी मिठास है। दूसरों के लिये उसके मन में आदर है। वह अपने देखने वालों का हृदय से स्वागत् करती है। उसके व्यवहार मे कृत्रिमता नहीं, वास्तविकता है। अपरिचित अथवा विदेशी के साथ उचित और भद्रतापूर्ण व्यवहार करना वह जानती है। तुम चम्पापुरी मे पूर्ण रूप से सुरक्षित हो, विदेशी!

और यह सुनते ही विदेशी का मन आनन्द से भर उठता। मगर तभी वह सुनता—यह तुच्छ-सी सेवा स्वीकार करो, भद्र! मैं आपके शुभ दर्शन कर सुखी हुआ, अतिथि! और तभी वह विदेशी देखता—अनेक प्रकार के व्यजनों से भरा हुआ थाल उसके सम्मुख रक्खा है—और चम्पापुरी का वह भद्र नागरिक उससे प्रार्थना कर रहा है कि वह उसे ग्रहण करे—और इस प्रकार उसे सुख पहुँचाये। उसे कृतार्थ करे। उसके मन की इच्छा पूरी हो—तो, वह धन्य हो जाये। वह स्वयँ को अहोभाग्य समझे।

ओह! कैसी आत्मीयता है, चम्पापुरी के निवासी के मन मे! वह सोचता है, मनुष्य का सुख इसी में है कि वह दूसरों को भी सुख पहुँचाये। अपने प्रयत्न-भर वह अपरिचित की सेवा करने मे भी कुछ उठा न रक्खे। और इस प्रकार लोक-कल्याण की भावना वह सबके मन में जगादे। वह जानता है, स्वयँ भी वह तभी सुखी हो सकता है, जब ससार के सभी

वे सभी स्वर्ग का धन्य मानते थे। विविध प्रकार के मनोहारी रंगों से पुते हुये ऊँचे-ऊँचे भवन, चौड़े और विस्तृत, साफ-सुथरे और अनेक प्रकार के वृक्षों से आच्छादित राज-मार्ग और जन-मार्ग नगरी में जीवन जगाते थे—और चम्पापुरी देश-विदेश के निवासियों के सात्विक हास्य से खिलखिलाकर हँस पड़ती थी।

तो नगरी का जीवन फिर सुखी और आनन्द मग्न पड़ता था—मन का मोह लेने वाला, मगर सीधा और सरल! मानो वे सभी पूर्ण सुखी और सम्पुष्ट थे। तो, देखने वाला सन्तोषप्रद आनन्द और मनभावनी तृप्ति का अनुभव करता था। वह मन ही मन उस नगरी के निवासियों के अच्छे भाग्य की सराहना करता था—और खुश होता था। निर्मल हँसी उसके ओठों पर मुस्कराती थी और उसके नेत्र चमकने लगते थे। तो चम्पापुरी का निवासी विदेशी के मुख पर आत्म-सन्तोष का निर्मल भाव देख कर, अपने मन में आत्म-गौरव का अनुभव करता था—वह स्वयं को भाग्यशाली मानता था।

और तब वह उस विदेशी से अभिवादन कर उसका स्वागत करता हुआ कहता था—पधारिये भद्र! आपका स्वागत है। और चम्पापुरी के उस नागरिक की ओर आकर्षित हुआ वह विदेशी जब उसके पास में आ बैठता—तो, वह नागरिक अपने ओठों पर मधुमय मुस्कान की एक रेखा खींच उससे कहता—आपकी ही दुकान है, सभी प्रकार से बैठो, भद्र! और कुछ क्षण रुककर वह फिर कहता—आज्ञा दीजिये, भद्र पुरुष! मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

और चम्पापुरी के भद्र नागरिक के मुख से निकले हुये ये शब्द विदेशी के मन मे गुदगुदी उत्पन्न कर देते। वे उससे बहुत-कुछ कहते। वे उससे कहते—चम्पापुरी केवल देखने मे ही सुन्दर नहीं है, विदेशी! उसकी बोली मे भी मिठास है। दूसरों के लिये उसके मन मे आदर है। वह अपने देखने वालों का हृदय से स्वागत् करती है। उसके व्यवहार मे कृत्रिमता नहीं, वास्तविकता है। अपरिचित अथवा विदेशी के साथ उचित और भद्रतापूर्ण व्यवहार करना वह जानती है। तुम चम्पापुरी मे पूर्ण रूप से सुरक्षित हो, विदेशी!

और यह सुनते ही विदेशी का मन आनन्द से भर उठता। मगर तभी वह सुनता—यह तुच्छ-सी सेवा स्वीकार करो, भद्र! मैं आपके शुभ दर्शन कर सुखी हुआ, अतिथि! और तभी वह विदेशी देखता—अनेक प्रकार के व्यजनों से भरा हुआ थाल उसके सम्मुख रक्खा है—और चम्पापुरी का वह भद्र नागरिक उससे प्रार्थना कर रहा है कि वह उसे ग्रहण करे—और इस प्रकार उसे सुख पहुँचाये। उसे कृतार्थ करे। उसके मन की इच्छा पूरी हो—तो, वह धन्य हो जाये। वह स्वयँ को अहोभाग्य समझे।

ओह! कैसी आत्मीयता है, चम्पापुरी के निवासी के मन मे! वह सोचता है, मनुष्य का सुख इसी मे है कि वह दूसरों को भी सुख पहुँचाये। अपने प्रयत्न-भर वह अपरिचित की सेवा करने मे भी कुछ उठा न रक्खे। और इस प्रकार लोक-कल्याण की भावना वह सबके मन मे जगादे। वह जानता है, स्वयँ भी वह तभी सुखी हो सकता है, जब ससार के सभी

जीव सुखी हों। समूचे समाज, राष्ट्र और संसार के सुख में ही व्यक्ति का सुख है—अन्यथा एक वह कभी सुखी नहीं हो सकता। जब उस एक के चारों ओर से सभी अभाव के दुख से दुखी हों—अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कराहते हों—तो वह एक किस प्रकार हँस सकता है। नहीं हँस सकता—और वह भी दुखी ही होगा—चाहे उससे लक्ष्मी कौन ही हार रही हो—तो, धन का भण्डार उसे सुखी और श्रेष्ठ नहीं बना सकता। उसमें सहृदयता और आत्मीयता हो—तो वह बड़ा है, श्रेष्ठ है और सुखी भी।

फिर चम्पापुरी में तो मानवता बिखरी पड़ी है—जो, विदेशी यहाँ से बहुत कुछ सीख सकता है—बहुत कुछ! और वह सीख कर विदेशी जाता है—तो उसकी खुशी फिर उसके नेत्रों में चमकने लगती है। और यह देखकर चम्पापुरी का वह भद्र और सुखी नागरिक प्रसन्न होता है। अपने भाग्य को सराहता है। वह सोचता है—उसने किसी की सेवा की—यह उसका सौभाग्य है।

वह जानता है—किसी की सेवा करने का अर्थ है—पुण्य संचय करना। अपनी और किसी दूसरे की आत्मा में सुख, शान्ति आनन्द और प्रकाश की सृष्टि कर देना—फिर, प्रत्येक आत्मा में अपनी ही आत्मा के दर्शन करना। और यह धर्म है। और धर्म उसे कहते हैं—जो मनुष्य को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। अंधकार से प्रकाश की ओर—और जिसकी सहायता प्राप्त कर मनुष्य अपनी आत्मा के उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ जाता है। फिर कर्मों के बन्धन

उसे रोक नहीं पाते—उसे नहीं रोकते—और वह आगे वढ जाता है—आत्मा से परमात्मा वनने के लिये। आत्मा से परमात्मा।

तो, चम्पापुरी ऐसे ही सहृदय, धर्म के मर्म को समझने वाले और भद्र जनों से उन दिनों ओत-प्रोत थी। जीवन उनका सुखी था—और मन का क्लेश उनको दुख नहीं पहुँचाता था। उनके घर धन और अन्न से भरे थे—और इस तरह वे सुखी और सानन्द थे। चोरों का भय उन्हे नहीं सताता था। पाप से वे घृणा करते थे—और धर्म मे उनकी निष्ठा थी। राजा उनका परम दयालु, कर्तव्य-निष्ठ और धर्मात्मा था—और वे उसके राज्य में सव प्रकार से सुखी थे—तो, वे अपने अच्छे राजा के गुणगान करते थे—और स्वयं को भाग्यशाली समझते थे—क्योंकि वे उसके राज्य मे रहकर दिन-प्रतिदिन उन्नति की ओर ही वढ़ते जाते थे।

फिर, चम्पापुरी के आस-पास का प्रदेश भी वहुत ही उपजाऊ था—जिससे उसके चारों ओर अनेक ग्रामों का एक जाल-सा विछा था—और उन ग्रामों के निवासी कृषि और गोपालन करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। फिर, अपने कर्त्तव्य की महत्ता में विश्वास करते हुए वे इतना अधिक अन्न उत्पन्न करते कि अग देश के राज्य की प्रजा की आवश्यकता से वह वहुत अधिक होता था—तो, दूसरे कमी वाले प्रदेशों को वह भेजा जाता था—उसका उचित मूल्य लेकर। और चम्पापुरी का किसान सुखी था। सव ओर से भरा-पुरा।

तो, नगर और ग्राम के सम्बन्ध मधुर थे। नगर-निवासी इस सत्य को भली प्रकार से समझते थे कि वास्तव में ग्राम-निवासी ही उनके पोषक हैं। उनकी भूख की ज्वाला को शांत करने वाले—जिस ओर से निश्चिन्त होकर वे आत्मोन्नति में बराबर बढ़ते रहते हैं, अन्यथा, भूखे पेट रहकर तो वे कुछ ही कदम चल सकते हैं—फिर, वे बैठ जायेंगे—बिना इस बात की चिन्ता किए हुए कि उन्हें यहाँ बैठना उचित भी है अथवा नहीं। और इस प्रकार उनकी आत्मा की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा—वे नष्ट हो जायेंगे—अनायास ही और भूख से तड़प-तड़प कर—तो कृषक ही उनका अन्नदाता है—उनका प्राणदाता।

और उनका प्राणदाता कृषक भी इस बात को अच्छी तरह से जानता था कि अन्न पैदा कर वह जीवित तो रह सकता है, मगर जीवन-सम्बन्धी अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति तो वह नगर-निवासियों के सहयोग ही से कर पाता है। बिना उनकी सहायता के वह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता—केवल अपनी भूख की पूर्ति कर जीवित ही रह सकता है—सो भी बहुत ही निम्न स्तर में—केवल जीवित! तो, जीवित रहना ही तो मनुष्य का एकमात्र धर्म नहीं है। अपने ज्ञान की सहायता से निरन्तर उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ने वाले मनुष्य के लिये और भी अनेक आदर्शों का पालन करना अपेक्षित है। और ज्ञान का प्रकाश उसे मिल पाता है, नगर-निवासियों के सहयोग से—तो वह उनकी उपयोगिता में किस प्रकार अविश्वास कर सकता है।

और इसी सहयोग और सहानुभूति के वातावरण में अंगदेश की प्रजा का जीवन दिन-प्रतिदिन आगे—और आगे ही बढ़ता जाता था—धर्म के संरक्षण मे, ज्ञान के आलोक मे—निरन्तर उन्नति के पथ पर। तो, विदेशी यहाँ से बहुत-कुछ सीख सकता था। वह सीख सकता था—मानव-जीवन में धर्म की महत्ता, परस्पर व्यवहार की कला, कला-पूर्ण जीवन का रहस्य—फिर, ज्ञान और वैराग्य। तो, मानव-जीवन की रहस्य-पूर्ण साधना।

जिस साधना के बल पर चम्पापुरी अपनी ओर सभी को आकर्पित करती थी। वह अपने प्रजा-पालक, धर्म-परायण और कर्त्तव्यशील राजा के राज्य मे सुखी और सानन्द थी। इसीलिये चम्पापुरी के निवासियों को अकाल मृत्यु, चोरी, दुर्भिक्ष, किसी भी प्रकार की महामारी आदि का भय नहीं सताता था—और वे परस्पर एक-दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करते थे—तो, खुश थे।

मानव-जीवन उन्हें मिला था—तो, वे उसका भली-भाँति उपयोग कर पाते थे। पूर्त्ति के अभाव मे वे दुखी नहीं थे—और अपनी बुद्धि और विद्या का उपयोग वे भली प्रकार कर सकते थे। विपम परिस्थितियों की काली छाया उन्होंने देखी तक न थी—और पीढ़ी-दर-पीढ़ी वे उन्नति के मार्ग पर आगे—और आगे ही बढ रहे थे। तो, सन्तोप की सांस लेकर वे सोचा करते थे—राजा की कर्त्तव्य-परायणता ही प्रजा का सुख है—और वे सौभाग्यशाली हैं, जो, कर्त्तव्य-निष्ठ राजाओं के राज्य मे वे सैकड़ों वर्षों से रह रहे हैं। फिर, वे अपने पूर्वजों की

शोध में अपना योग सफलतापूर्वक दे पाते हैं—और इस प्रकार वे बराबर आगे बढ़ रहे हैं—तो, वे धुरा थे।

मगर समय के हस्तक्षेप ने आज चम्पापुरी को चम्पारन बना दिया है—फिर, उसके नाम के साथ-साथ उसके रूप को भी बदल डाला है, मगर उसका गौरव इतिहास के पन्नों में आज भी सुरक्षित है।

वह हमेशा सुरक्षित रहेगा।

महाराज और महारानी

२

राजा की मान्यता यही हो—फिर, उसका सुख भी इसी में है—कि उसकी प्रजा सुखी हो। और ऐसे उस राजा को फिर राज्य-विप्लव का भय नहीं सताता। दुर्गुणों में वह नहीं फँसता। कर्त्तव्य-च्युत वह नहीं होता। किसी का अनिष्ट वह नहीं करता। सत्य से विचलित वह नहीं हो पाता। हिंसा वह नहीं करता। पाप-कर्मों से वह बहुत दूर रहता है। प्राणों का संकट उसे आकर नहीं घेरता। प्रजा की भलाई में रहकर वह अपना जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत करता है। और ऐसा वह राजा एक आदर्श राजा है। प्रजा उसका नाम लेने में गौरव का अनुभव करती है। तो, वह अमर है। इतिहास के पन्नों में उसका नाम फिर श्रद्धा-पूर्वक लिपि-बद्ध किया जाता है। आने वाली सन्तान फिर उसका नाम आदर-पूर्वक लेती है—और वह अमर है।

तो, यह अंगदेश का सौभाग्य ही था कि वहाँ पर अधिकतर ऐसे ही राजाओं ने राज्य किया—जो अपनी प्रजा के लिये ही जिये और उसकी भलाई के लिये ही मरे। अपनी प्रजा

करने के लिये ही राजा जन्म ग्रहण करता है। तो, राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने इस परम पवित्र कर्त्तव्य का सदिच्छा से पालन करे। महत्ता का यह पद उसे इसीलिये प्रदान किया गया है—क्योंकि उसे इस योग्य समझा गया है। तो, राजा शब्द का सीधा-सादा अर्थ है—जनता का एक जिम्मेदार सेवक। और यही उसका बड़प्पन है—तो, उसे अपने इस पद की मान-मर्यादा की रक्षा के लिये अपने कर्त्तव्य का पालन करना अनिवार्य है। और तभी उसे सच्चे अर्थों में राजा कहा जा सकता है—जनता का एक जिम्मेदार सेवक।

और महाराज दधिवाहन अपने इसी विश्वास की सहायता से निरन्तर प्रगति-पथ पर आगे बढे। उनके पद के अनुरूप उनका सेवा-कार्य भी बहुत बड़ा था। अपनी प्रजा के हित के लिये वह सोचा करते थे—राज्य के कोष में एकत्रित धन प्रजा की धरोहर है, जिसकी रक्षा का भार उनके ऊपर है—तो, वह उसे मन-माने ढंग से व्यय नहीं कर सकते। अपनी प्रजा की आज्ञा के बिना वह उसे खर्च कर भी नहीं सकते—फिर, अपने व्यक्तिगत् खर्च में उसे लाना तो प्रजा के साथ विश्वास-घात करना है। और इसीलिये उन्होंने प्रजा की उस धरोहर की रक्षार्थ—अथवा उसका प्रजा के हित में ही उपयोग करने के लिये—कतिपय आदर्श प्रजा-जनों की एक समिति नियुक्त करदी थी—जिसकी आज्ञा प्राप्त किये बिना वह उस धन में से एक पैसा भी खर्च नहीं करते थे।

उनकी प्रजा बुद्धिमती हो, विद्या और धर्म के प्रति उसका अनुराग बढे, प्रत्येक जीव के प्रति वह दया का व्यवहार करे,

के सुख में ही वे सुखी थे—और उसके दुख में ही दुखी। अपनी प्रजा का उन्होंने सर्वदा एक अच्छे पिता के समान पालन-पोषण किया—और जीवन-पर्यन्त उन्होंने उसके मान की रक्षा की। धर्म-पूर्वक उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया—और न्याय पूर्वक शासन—तो मुक्त-कंठ से प्रजा ने उनकी सराहना की—और वे अमर हो गये।

इसीलिये अंगदेश के अनेक राजाओं का नाम इतिहास में अमर है। इतिहास-कारों ने उनकी कीर्ति-गाथा को स्वर्ण-अक्षरों में अंकित किया है। तो, वे आज भी जीवित हैं। अंग देश के राजा दानवीर कर्ण का नाम तो एक उदाहरण बनकर रह गया है। हजारों वर्षों के बाद आज भी लोग महाराज कर्ण का नाम ऐसे प्रसंग के समय अनायास ही प्रयोग में लाते हैं—और इस प्रकार महात्मा कर्ण के प्रति अपनी श्रद्धांजली अर्पित कर वे गौरव का अनुभव करते हैं। और यही उनका अमरत्व है—जो सृष्टि के अन्त तक अक्षय बना रहेगा। यह छिपाये से भी न छिपेगा—मिटाये से भी न मिटेगा। और वह अमिट है।

और दानवीर कर्ण की भाँति अंगदेश के राजाओं में महाराज दधिवाहन का नाम भी आदर-पूर्वक लिया जाता है। महाराज दधिवाहन धर्म-तत्त्व-मर्मज्ञ न्याय-चतुर, प्रजा-वत्सल और एक आदर्श राजा थे। उनका जीवन सीधा सरल और धर्मानुरागी था। वह धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करते थे—और उनका मन सदा प्रजा की सेवा में तत्पर रहता था। झूँठ वह कभी नहीं बोलते थे—और अहिंसा का वह मन, वचन और कर्म से पालन करते थे। उनका विश्वास था—प्रजा की सेवा

करने के लिये ही राजा जन्म ग्रहण करता है। तो, राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने इस परम पवित्र कर्त्तव्य का सदिच्छा से पालन करे। महत्ता का यह पद उसे इसीलिये प्रदान किया गया है—क्योंकि उसे इस योग्य समझा गया है। तो, राजा शब्द का सीधा-सादा अर्थ है—जनता का एक जिम्मेदार सेवक। और यही उसका बड़प्पन है—तो, उसे अपने इस पद की मान-मर्यादा की रक्षा के लिये अपने कर्त्तव्य का पालन करना अनिवार्य है। और तभी उसे सच्चे अर्थों में राजा कहा जा सकता है—जनता का एक जिम्मेदार सेवक!

और महाराज दधिवाहन अपने इसी विश्वास की सहायता से निरन्तर प्रगति-पथ पर आगे बढे। उनके पद के अनुरूप उनका सेवा-कार्य भी बहुत बड़ा था। अपनी प्रजा के हित के लिये वह सोचा करते थे—राज्य के कोष में एकत्रित धन प्रजा की धरोहर है, जिसकी रक्षा का भार उनके ऊपर है—तो, वह उसे मन-माने ढंग से व्यय नहीं कर सकते। अपनी प्रजा की आज्ञा के बिना वह उसे खर्च कर भी नहीं सकते—फिर, अपने व्यक्तिगत् खर्च में उसे लाना तो प्रजा के साथ विश्वास-घात करना है। और इसीलिये उन्होंने प्रजा की उस धरोहर की रक्षार्थ—अथवा उसका प्रजा के हित में ही उपयोग करने के लिये—कतिपय आदर्श प्रजा-जनों की एक समिति नियुक्त करदी थी—जिसकी आज्ञा प्राप्त किये बिना वह उस धन में से एक पैसा भी खर्च नहीं करते थे।

उनकी प्रजा बुद्धिमती हो, विद्या और धर्म के प्रति उसका अनुराग बढे, प्रत्येक जीव के प्रति वह दया का व्यवहार करे,

अपने सद्-व्यवहार से वह सभी को मोहित करे, प्रजा के प्रति उसका प्रेम अटूट हो समभाव से वह जीवन-यापन करे—फिर, सुखी और सानन्द हो, भौतिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त आवश्यक वस्तुओं का उसके पास अभाव न हो धर्म-चर्चा में उसका मन लगे, अपने कर्तव्य से वह विमुख न हो जाये—तो उसका जीवन क्या तुच्छ; मगर सीधा और सरल हो—महाराज दधिवाहन यही सब कुछ सोचते—फिर, निर्णय कर उसे व्यवहार में लाते। अपना उदाहरण जनता के सम्मुख वह उपस्थित करते—और उनकी प्रजा फिर उसी मार्ग पर आगे बढ़ती—तो स्वयं को सुखी और सानन्द अनुभव करती।

वह सोचते थे—अगर राजा स्वयं को स्वामी के स्थान पर प्रजा का सेवक समझे—तो, प्रजा और राजा के बीच की विषमता फिर ठहर नहीं सकती—उसे मिटना होगा—और वह मिट जायगी। तो कर्तव्य की भावना फिर दोनों ओर जाग उठेगी—और राजा और प्रजा फिर दोनों ही कल्याणकारी मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ेंगे—और दोनों का ही जीवन पवित्र और आनन्दमय होगा। पवित्र और आनन्दमय—और यही तो दोनों की सफलता है।

राजा अन्नदाता नहीं हो सकता—अन्नदाता तो उसकी कृषक-प्रजा है—जो अपने कठिन प्रयत्न के द्वारा अन्न को उत्पन्न करती है। फिर उसको सभी के बीच बाँटकर प्रसन्नता का अनुभव करती है। तो 'अन्नदाता की जय' का अर्थ है—कृषक-वर्ग की जय! किसान की जय! और इस वाक्य का

यह अर्थ कल्याणकारी और उचित है। इससे राजा के मन का भ्रम मिट जाता है। उसका अहम् नष्ट हो जाता है। वह स्वयं को प्रजा का सेवक, एक तुच्छ सेवक समझने लगता है।

और अपने इन्हीं विचारों को व्यवहार में ले-आने के कारण महाराज दधिवाहन प्रजा के बहुत अधिक प्यारे थे। अगदेश की उनकी प्रजा उनका हृदय से मान करती थी। वह कर्त्तव्य-निष्ठ, प्रजा-वत्सल और एक आदर्श राजा थे। उनका जीवन परम् पवित्र और परम् धार्मिक था। उनके शासन-काल मे प्रजा सुखी और धन-धान्य से पूर्ण थी। कला-मर्मज्ञ, विद्वान् और धर्मात्माओं का आदर होता था। चोर और लुटेरों का भय प्रजा को नहीं सताता था। उनके राज्य मे कोई अकाल मृत्यु से नहीं मरता था।

अगदेश की राजधानी चम्पापुरी का वैभव उन दिनों अनूठा था। अनेक प्रकार की वस्तुओं के व्यापार की केन्द्र-स्थली होने के कारण उसका महत्व बहुत अधिक बढ़ गया था—और वह सर्वदा विदेशियों को अपनी ओर आकर्षित करती रहती थी। चम्पापुरी के नागरिकों ने उसे प्रयत्न-भर खूब सजाया था। अपने अच्छे राजा का पूर्ण सहयोग उन्हें मिला था—और उनके अपने परिश्रम से चम्पापुरी खिलखिलाकर हँस पड़ी थी। उसका सन्तुष्ट जीवन महाराज को जीवन-दान देता था—और कर्त्तव्य-निष्ठ, पवित्र विचारों वाले महाराज दधिवाहन फूले नहीं समाते थे।

फिर, कर्त्तव्य-परायण महारानी धारिणी भी कर्त्तव्य निष्ठ अपने पति के लोक-हित के लिये किये जाने वाले इन कार्यों

में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करती—तो, महाराज का विश्वास उनसे बार-बार यही कहता—तुम वास्तव में बड़े भाग्यों वाले हो दधिवाहन! तुम्हारा हृदय निर्मल, तुम्हारे विचार शुद्ध, तुम्हारे सभी कार्य लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत, और तुम्हारी पत्नि तुम्हारे विचारों के अनुरूप—तो तुम वास्तव में बड़े भाग्यों वाले हो, दधिवाहन! तुम्हारी प्रजा हृदय से तुम्हारा मान करती है, अपनी प्रजा के हित के निमित्त तुम कुछ उठा नहीं रखते अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसके लिये तुम सब कुछ करते हो—सब कुछ—तो तुम एक आदर्श राजा कहे जाते हो—फिर तुम स्वँय को अपनी प्रजा का एक तुच्छ सेवक समझते हो—और पतिव्रता धारिणी तुमको पति के रूप में प्राप्त कर अपने हृदय में आनन्द का अनुभव करती है—वह स्वयँ को गौरव शालिनी समझती है—फिर, तुम्हारे प्रत्येक कार्य में खुशी-खुशी अपना हाथ बँटाती है—और खुश होती है—तो ऐसी पति-परायणा, कर्तव्य-शीला आनन्द-प्रिया लोक-हित, और धर्म की महत्ता में विश्वास रखने वाली पत्नि को प्राप्त कर वास्तव में तुम बड़े भाग्यों वाले हो दधिवाहन!

और अपने विश्वास की यह बात महाराज दधिवाहन को बहुत अच्छी लगती। फिर वह अपने कर्तव्य-पथ पर आगे बढ़ चलते—और खुश होते। वह धारिणी को पत्नि रूप में प्राप्त कर स्वयँ को बड़े भाग्यों वाला समझते—और उसकी सहायता, उसके सहयोग से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते रहते। और धारिणी की शालीनता में उन्हें विश्वास था—अखंड और अटूट!

और पति का यह अखंड और अटूट विश्वास धारिणी को बहुत सुख देता। वह प्रतिक्षण और प्रति-पल उसे प्रोत्साहित करता रहता—अपने इस धार्मिक और पवित्र कर्त्तव्य-पथ पर बढी चलो, धारिणी—चली चलो! तुम्हारे नारी-जीवन की सफलता जब इसी मे निहित है, तुम्हारी आंतरिक अभिलाषा जब इसी प्रकार पूर्णता को प्राप्त करेगी—वह इसी प्रकार फलवती होगी—और जब तुम्हारा विश्वास भी यही है—केवल, यही-तो, अपने इस धार्मिक और पवित्र कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ी चलो, धारिणी-चली चलो!

और पतिव्रता धारिणी अपने कर्त्तव्य-परायण पति के द्वारा निर्धारित उस सत् पथ पर बराबर आगे बढी। अपने बाल्य-काल मे उसे इसी बात की शिक्षा मिली थी—तो, अब वह सफलता-पूर्वक उस ओर चली—और वह इसलिये खुश थी। धर्म-शीला धारिणी की मान्यता थी—गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश करने पर नारी के लिये अपेक्षित है कि वह सत्य-पथ पर अग्रसर होते हुये अपने पति की अनुगामिनी बने। अपने सहयोग से अपने पति की गति को और भी तीव्र कर दे। वह उसके मार्ग को अवरुद्ध करने वाला रोड़ा न बने, बल्कि, अपने जीवन को वह उस-जैसा बना ले—और प्रसन्नता-पूर्वक उसके लिये वह सब कुछ करे। आवश्यकता आ-पड़ने पर वह अपने प्राणों का भी मोह न करे—और हँसते-हँसते वह उन्हें त्याग दे।

फिर, अपने शील-धर्म की रक्षा करना भी नारी का परम् कर्त्तव्य है। किसी भी प्रलोभन मे फँसकर वह मार्ग-च्युत न हो जाये। कठिन से कठिन समय उपस्थित होने पर भी वह

घबराये नहीं—धैर्य को अपने हाथों से जाने न दे। तब, प्राण भले ही चले जायें; मगर अपने सतीत्व की वह रक्षा कर सके—तो, वह धन्य है।

क्योंकि नारी का वह पति ही उसका सर्वस्व है। उसका सब कुछ! तो पतिव्रता नारी पर-पुरुष की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखती। उसके अपने पति के अतिरिक्त संसार के अन्य सभी पुरुष उस नारी के लिये पिता, बन्धु और पुत्र के समान हैं। और एक पतिव्रता नारी इन सबको इन्हीं रूपों में देखती है—तो उसका आचरण फिर पवित्र है। वह पतिव्रता है।

और धर्म-शीला धारिणी की वह मान्यता महाराज दधिवाहन के लिये एक वरदान थी—और अंगदेश की प्रजा के लिये तो मानो उसका जीवन! पति-परायणा धारिणी का पुनीत सहयोग उन्हें मिला था—और अपनी प्रजा के सामने फिर प्रसन्न-वदन वह सब कुछ करते थे। सब कुछ!

तो, अंग देश की प्रजा भी ऐसे प्रजा-वत्सल और धर्म-परायण महाराज तथा पतिव्रता और कर्तव्य-शीला महारानी को प्राप्त कर फूली नहीं समाती थी। वह अपने महाराज दधिवाहन और महारानी धारिणी का हृदय से मान करती थी। महाराज को वह अपना गुरु, अपना उद्धार-कर्त्ता, अपना स्वामी अपना सब-कुछ समझती थी—और धारिणी को अपनी माता, अपनी महारानी अपनी शक्ति। और वह धन-धान्य से भरी-पुरी और सुखी थी।

आदर्श मानव : आदर्श गृहस्थी

३

सदा अपनी प्रजा के हित मे तत्पर रहने के कारण महाराजा दधिवाहन एक आदर्श राजा थे। अपने विश्वासों के अनुसार उनका प्रत्येक कार्य लोक-कल्याण की महती भावना से ओत-प्रोत था—और वह उस कार्य को करने मे एक विशेष प्रकार की शान्ति का अनुभव किया करते थे—तो, मन की पवित्रता उनके अपने विश्वासों का एक अग थी—और उनकी कर्त्तव्य-साधना सदा जागरूक रहकर उनका साथ दिया करती थी—फिर, धर्म उनमे विश्वास जगा देता था—और वह उस ओर आगे बढ चलते थे—अपनी प्रजा का कल्याण करते हुए—साधना के मार्ग पर। उस मार्ग पर—जो, मोक्ष की ओर जाता है—आत्मा से परमात्मा की ओर। और वह एक आदर्श राजा थे।

और एक आदर्श गृहपति भी। एक आदर्श गृहपति अथवा एक अच्छे पति होने के नाते भी उनका जीवन सतत् सहयोग तथा वांछनीय कर्त्तव्यों से भरा-पुरा था। वास्तव में, घर के भीतर महाराज दधिवाहन अगदेश के एक सामान्य

नागरिक के समान अपना जीवन व्यतीत करते थे। राजाओं के-से आडम्बर से हीन उनका घरेलू जीवन बहुत ही सीधा-सादा और पवित्र था। अधिकतर वह अपना प्रत्येक कार्य अपने हाथों किया करते थे। इस विषय में उनका विश्वास था—स्वावलम्बी होना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है—क्योंकि स्वावलम्बी मनुष्य ही संसार में सब कुछ कर सकता है। जो, मनुष्य दूसरों पर आधारित रहता है—जब वह अपने लिए भी दूसरों का ही सहारा टटोलता है—तो वह संसार की भलाई फिर किस प्रकार कर सकता है। जब उसका स्वयं का जीवन ही दूसरों की कृपा पर आधारित है—तो वह लोक-कल्याण की महती भावना को फिर किस प्रकार वहन कर सकता है। नहीं कर सकता—तो, वह सत्य से बहुत दूर है। धर्म का प्रकाश उसे नहीं मिला है—तो वह कर्तव्य-हीन और निकम्मा है।

और महाराज अपना प्रत्येक कार्य अपने हाथों किया करते थे—सरलता-पूर्वक और आत्म-सन्तोष के साथ। गृहस्थी होने के नाते जीविका-उपार्जन करना वह अपना धर्म समझते थे। फिर इसलिये कठिन प्रयत्न कर जो कुछ भी वह पा जाते—उसीसे अपनी छोटी-सी गृहस्थी का जीवन-निर्वाह करते। तो, वह परिग्रह की भावना से बहुत दूर थे। वह सोचा करते थे—अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त मनुष्य को धन की जरूरत तो पड़ती है, मगर इसलिये नहीं कि वह उसे अपने पास रोक कर रख ले—उसे इकट्ठा ही करता चला जावे—तो अपने पास धन के अम्बार लिनके—

और इस तरह वह दूसरों की आवश्यकता के विषय मे बिल्कुल उदासीन हो जाये—उस ओर ध्यान ही न दे—तो, वह दूसरों का अहित करता है। फिर, परिग्रह की भावना को अपने मन मे स्थान देने वाला वह मनुष्य अपने और ससार के जीवन में सुख और शान्ति किस प्रकार ला-सकता है। तो, ऐसा वह मनुष्य धर्म के प्रकाश से बहुत दूर है। उसकी मनुष्यता कु ठित हो गई है—और उसने अपना सर्वस्व गँवा दिया है। वह न स्वयं सुखी है और न दूसरों को ही सुख पहुँचा सकता है।

तो, अपने हृदय मे परिग्रह की भावना को स्थान देने वाला मनुष्य अपने और पराये जीवन में सुख के स्थान पर फिर दुख की ही सृष्टि करता है—और क्योंकि वह वास्तविकता की ओर से बेखबर है - अथवा उसने अपनी नैतिकता को खो दिया है—तो, वह असत्य को ही सत्य समझता है। फिर, ससार का कोई भी पाप वह बड़ी सुगमता से कर डालता है—और खुश होता है। मगर उसकी खुशी की उस हँसी में उसकी कुटिलता स्पष्ट दीख पड़ती है—तो, वह कर्त्तव्य-हीन और निकम्मा है।

और महाराज परिग्रह की भावना से बहुत दूर थे। तो, मानवता के बहुत समीप। और उनकी मानवता उनसे कहा करती थी--जीवों में श्रेष्ठ यह जीवन अगर तुम्हें मिला है—दधिवाहन—तो, इसकी श्रेष्ठता इसी मे है कि तुम इसका उपयोग करो। मानव होने के नाते, बुद्धि तुम्हारे पास है, विद्या का प्रकाश तुम्हें मिला है। तो, इस जीवन को व्यर्थ न जाने दो।

बार-बार जन्म ग्रहण कर अब तक तुमने बहुत कुछ सहा है बहुत-कुछ खोया है—क्योंकि उन जन्मों में तुम बुद्धि और विद्या से हीन थे—तो, मानव-जीवन की श्रेष्ठता को तुम समझो, दधिवाहन—और उसका पूर्ण विकास करने के लिये पूर्वजों के चरण-चिन्हों का अनुसरण करो—और शुद्ध बुद्ध बन जाओ—तो, तुम्हारा मानव-जन्म फिर सफल हुआ। तुम्हारा यह जन्म सार्थक हुआ।

तो इसलिये तुम्हें आवश्यक है—कि तुम भूल जाओ—कि तुम एक राजा हो। मगर मेरे इस कथन का तुम ग़लत अर्थ न लगा लेना। मैं यह नहीं कहती—कि इस तरह तुम राजा के अपने कर्तव्य से विमुख हो जाओ। मैं कहती हूँ, पहिले तुम मानव हो—और फिर एक राजा। मानवीय गुणों से ओत-प्रोत एक राजा। और इस तरह फिर तुम एक आदर्श मानव और एक आदर्श राजा बनोगे। एक आदर्श मानव और एक आदर्श राजा—तो तुम्हारी आत्मा का कल्याण होना फिर निश्चित है। अन्त में तुम निश्चय ही परम-पद मोक्ष को प्राप्त करोगे और कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाओगे।

तो मनुष्य-जन्म की सार्थकता इसीमें है। उसकी उपयोगिता ही उसकी श्रेष्ठता है और—उसकी उपयोगिता को रूप प्रदान कर देना—अथवा उसे व्यवहार में ले आना ही—धर्म की साधना। तो मैं कहती हूँ—धर्म की साधना कर—अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ो—दधिवाहन। अंधकार से प्रकाश की ओर।

और अपने जीवन में इन गुणों का विकास कर महाराज एक आदर्श मानव और एक आदर्श राजा वन गये थे। ससार पर अमृत की वर्षा करते हुये वह उस ओर वढे थे—और मानव-जीवन की सार्थकता को उन्होंने पा-लिया था। वास्तव में वह एक सादा-चलन, नेक-नीयत और धर्म-परायण व्यक्ति थे। उनका जीवन सीधा, सरल और पवित्र था। मनुष्य के सीधे-सादे रहन-सहन और उच्च आदर्शों के पालन करने में वह विश्वास करते थे—तो, मन की दुर्वलताओं से वह मुक्त थे। मनुष्य-जीवन की वास्तविकता के रहस्य से वह भली-भाँति परिचित थे—तो, उनका अपना वह मन उनके अधिकार मे था। दुर्गुणों मे वह नहीं फॅसता था—सद् गुणों की ओर वह वरावर वढ़ता जाता था—अपने इस विश्वास के सहारे—कि इस प्रकार वह कर्मों के वन्धन से मुक्त हो जायेगा। वह मोक्ष-पद प्राप्त कर लेगा। आत्मा से परमात्मा वन जायेगा।

और एक आदर्श पत्नि की भॉति धर्म-शीला धारिणी उनके साथ थी। तो, गृहस्थ-जीवन उनका मगलमय था। उनकी सह-धर्मिणी उनके विचारों के अनुरूप थी—तो, वह स्वयॅ को सुखी और सानन्द अनुभव करते थे। वास्तव मे, धारिणी एक आदर्श गृहिणी और एक आदर्श नारी थी। महारानी तो वह पीछे ही थी—पहिले तो वह एक मानवी ही—और नारी के सभी गुण उसमें विद्यमान् थे—तो, ऐसी गुण-शीला, कर्त्तव्य-परायणा, दयावती और कल्याणी नारी को पत्नि-रूप में प्राप्त कर महाराज खुशी से फूले नहीं समाते थे—गृहस्थ-जीवन का सुख इसी मे है—कि पति-पत्नि एक-रूप हों, एक ही विचार के

पोषक। धर्म की पवित्रता जिनका रूप सँवारती हो। निर्मल आत्म की चल-लहरी जिनके मन में सदा प्रवाहित होती रहती हो। आत्मोन्नति और पर-हित की पवित्र भावना के प्रति जो जागरूक हों—जो जीवन जिनका सात्विक और पवित्र हो—फिर आनन्दमय और उपयोगी।

और धारिणी अपने आदर्श पति की एक आदर्श पत्नि थी। गृह कार्यों में रत वह एक पतिव्रता स्त्री थी। महारानी होने पर भी वह घर के सभी काम पूर्ण मनोयोग के साथ अपने हाथों से करती—और खुश होती थी। सुरुचि-पूर्ण ढंग से किये गये उसके ये काम महाराज दधिवाहन के मन को बहुत भाते—और वह उसकी प्रशंसा करते हुये कभी अघाते नहीं थे। और पति के मुख से अपनी प्रशंसा के उन शब्दों को सुन कर धारिणी स्वयं में ही सिकुड़-सी जाती थी—तो उसका अहम् फिर उस पर अपना अधिकार नहीं जमा पाता था—तो, कर्तव्य-भ्रष्ट होने से वह बच जाती थी। वास्तव में, प्रशंसा-मूलक उन शब्दों को वह बहुत ही शान्त भाव से ग्रहण करती थी—और उनकी मान्यता को अपने शीश पर धारण कर वह अविचलित भाव से बराबर अपने पथ पर अग्रसर होती रहती थी। तो वह गृह-कार्य में रत एक आदर्श गृहिणी थी—एक आदर्श गृह-लक्ष्मी! एक आदर्श आर्या!

उसका विश्वास था—आर्या वह है—जो पति-परायण है। जो उस रूप में केवल अपने पति को ही भजती है। जो, संसार के अन्य पुरुषों को अपना पिता अथवा भाई तथा अपना पुत्र समझती है। जो गृह-कार्यों में कुशल है—जो उन्हें

अपना कर्त्तव्य समझ भली प्रकार से सम्पादित करती है। जो, सन्तति को जन्म देती है। अपनी सन्तान का पालन जो यत्न-पूर्वक करती है। जो, अपने पति के लिये उचित परामर्श देने वाले मित्र के समान है। धर्म के कार्यों में जो हितैषी पिता के समान, पति पर शारीरिक कष्ट पड़ने पर स्नेह-मयी माता के समान—और जो जीवन-पथ के दुर्गम स्थलों पर पति के लिये सुखदायक विश्राम-स्थल बन जाती है। तो, ऐसी ही वह नारी भार्या है।

और अपने इस विश्वास के अनुसार धारिणी वास्तव में ऐसी ही थी। वह अपूर्व सुन्दरी, निर्मल कान्ति वाली एक आदर्श नारी, और एक आदर्श पत्नि थी। अहँकार, अभिमान, ईर्ष्या, अमरेश, और आलस्य से वह सदा दूर रहती—और धैर्य, साहस और गाम्भीर्य मे वह विश्वास करती थी। धर्म के औचित्य मे उसकी मान्यता अखड थी। वह सोचा करती थी–नारी-जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह अपने शील-धर्म की रक्षा अपने प्राण देकर भी करे। उस पर आँच न आने दे—और वह उसकी रक्षार्थ स्वयँ को बलिदान कर दे। नारी का जीवन रहे–न रहे, मगर उसका सतीत्व नष्ट न हो—तो, ऐसी वह नारी महान् है। उसका नारी-जन्म सार्थक है।

फिर, ऐसी वह नारी एक आदर्श मा भी बने—क्योंकि नारी कल्याणी है—और अपने इसी रूप मे उसने अमरत्व को प्राप्त किया है। वह ससार मे पूजी जाती है। उसके चरणों की रज को ससार अपने माथे पर धारण करता है। क्योंकि, अपने इसी रूप मे वह ससार का कल्याण करती है। उसके

४

महाराज दधिवाहन एक आदर्श राजा और एक आदर्श पति थे—और धारिणी एक आदर्श महारानी और एक आदर्श भार्या। अंगदेश की प्रजा अपने ऐसे अच्छे महाराज और कल्याणी महारानी पर अपना सर्वस्व लुटा देने के लिये सदा तत्पर रहती थी। वह स्वयं को धन्यभाग समझती थी। तो, महाराज और महारानी अपनी प्रजा को पूर्ण सन्तुष्ट और सुखी देखकर एक गहरे आत्म-सन्तोष का अनुभव किया करते थे। इस प्रकार वे प्रजा के अधिकारों की रक्षा कर पाते थे—तो, उन्हें अपना जीवन आनन्द से भरा-पुरा जान पड़ा करता था और वे अपने मन में एक अलौकिक सुख का अनुभव किया करते थे।

फिर, उनका गृहस्थ-जीवन बहुत ही सुखी और सानन्द था—तो, महाराज और महारानी के आनन्द की सीमा न थी। और महाराज सोचा करते थे—घर के भीतर मेरा जीवन सुखी है—तो, यह कर्त्तव्य-शीला और धर्म-परायणा धारिणी के कारण ही। क्योंकि मेरे घर की लक्ष्मी, उसकी शोभा,

जीवन की रक्षा—तो वह महान् है ! महान् से भी महान् ! ता, वह एक आदर्श मां भी बने—और इस प्रकार लोक का कल्याण करती हुई वह एक दिन कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाये। वह मोक्ष को प्राप्त कर ले—और आत्मा से परमात्मा बन जाये। आत्मा से परमात्मा !

और अपने इन्हीं विचारों की सहायता से चारित्री जीवन-पर्यन्त शाश्वत वेग से आगे बढ़ी। वह एक आदर्श-मानवी, एक आदर्श गृहिणी और एक आदर्श भार्या थी। पतिव्रत-धर्म की महत्ता को उसने अपने जीवन में स्वीकार किया था—फिर जीवन-भर बड़े ही सतर्क भाव से उसने अपने शील-धर्म की रक्षा की। अपने मानवी रूप में वह एक आदर्श माता थी—तो वह लोक-हित के कार्यों में संलग्न अपने पति के साथ उस ओर बराबर आगे बढ़ी। संसार के हित के लिये वह सदा सजग और सचेत रही—और कल्याण-कारिणी मां के रूप में उसने अपने इस धर्म का पालन किया। सुगृहिणी होने के नाते उसने अपने पति के जीवन-सम्बन्धी आदर्शों को जीवन प्रदान किया। घर की शान्ति को चिरस्थायी बना दिया। किसी भी वस्तु के अभाव को उसने अनुभव न होने दिया। भार्या के रूप में उसने अपने आदर्श पति की रक्षा की—पति की आदर्श नैतिकता और धार्मिकता का आदर्श बनाये रक्खा। सच्चे मन से पति की सेवा की—और वह अमर हो गई।

वह एक आदर्श मानवी, एक आदर्श गृहिणी और एक आदर्श भार्या थी।

———

पवित्र मन की पुनीत अभिलाषा

उसकी स्त्री—धारिणी, धर्म के तत्त्व को जानने वाली, कर्त्तव्यों का पालन करने वाली मधुर-भाषिणी और कल्याणी है। वह मेरे विचारों के अनुरूप, घर के सभी कामों में पारंगत, सात्विक और सरल जीवन व्यतीत करने वाली, सुशीला पति परायणा मन-भाविनी और सुरुचि-सम्पन्ना है। वह एक आदर्श भार्या है। और घर के भीतर मेरा जीवन सुखी है।

और धारिणी को विश्वास था—उसके पति कल्याणकारी पथ के पथिक, सत्य और मधुर भाषण करने वाले जीवन में सरलता और धार्मिकता के अनुरागी अपने धर्म का पालन करने वाले लोगों के प्रति दयाशील, कर्त्तव्य-परायण और विचारवान् हैं—तो उसका नारी-जन्म सार्थक है। उसका विवाहित जीवन सुखी है। वह लोक-कल्याण में विश्वास करने वाले, सत्य के सच्चे साधक, धर्म के अनुसार आचरण करने वाले, मानव-जीवन की उपयोगिता को भली प्रकार समझने वाले जनता के सच्चे सेवक, परम पवित्र ज्ञान के ज्ञानी एक आदर्श गृह-पति और एक आदर्श पति की पत्नि है—तो उसका नारी जन्म सार्थक है। उसका विवाहित जीवन सुखी है। अपने अपने पति की देख-रेख में वह अपने धर्म के पथ पर सफलता-पूर्वक आगे बढ़ रही है—और वह सुखी है—तो, वह सौभाग्य शालिनी है। वह बड़े भाग्यों वाली है।

और इस प्रकार से दोनों एक-दूसरे को अपने विश्वास अपनी भक्ति और अपनी श्रद्धा की प्रेम-पूरित भेंट अर्पित करते हुये परस्पर सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। जीवन की उपयोगिता में उनका विश्वास था। मन की पवित्रता उनके

साथ थी। धर्म की ज्योति उन्हें मिली थी—फिर, अपनी बुद्धि की सहायता से उन्होंने अपना मार्ग स्वयं खोज निकाला था। तो, जीवन की वास्तविकता उन्हें मिल-पा-रही थी—और वे सुखी थे।

तो, सात्विक आनन्द की अखंड ज्योति से उनका मन सदा प्रकाशमान रहता था। और उनके जीवन में कभी-कभी ही ऐसे दो-चार क्षण आते थे—जब वे दोनों एक-बारगी ही अपने अभाव की पूर्त्ति के निमित्त कुछ सोचते-से जान पड़ा करते थे। कुछ गंभीर से हो जाते थे। एक अभाव उनके मन में खटक जाता था। अपने गृहस्थ-जीवन में एक कमी उन्हें महसूस होने लगती थी। वे सोचने लगते थे—विवाहित जीवन की सार्थकता इसी में है कि वे माता और पिता बनें। कोई बालक उत्पन्न हो और अपने किलकारी-भरे शोर से उनके घर को भर दे। उन दोनों के योग का सच्चा-स्वरूप उनके सम्मुख प्रकट हो जाये—और वे अपने जीवन की कमियों को उसमें पूरा कर अपने विवाहित जीवन की सार्थकता को प्राप्त कर लें।

और इस प्रकार मानव-समाज को अपनी एक मूर्त्तिमान् भेंट दे-सकने में समर्थ हों—तो, गृहस्थ-जीवन उनका सार्थक हो। फल-युक्त हो—और वे खुशी से हँसें और मुस्करायें। पुत्र हो अथवा पुत्री—इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं है। जब पुत्र और पुत्री—स्त्री और पुरुष, दोनों ही मानव-समाज के दो अभिन्न अंग हैं—तो, उनमें भेद करने से फिर क्या लाभ? जब एक—दूसरे की पूर्त्ति है, स्त्री की सहायता के बिना पुरुष का—और पुरुष के सहयोग के बिना स्त्री का कार्य सध नहीं

सकता—हो नहीं सकता—तो स्त्री और पुरुष में भेद करना किस प्रकार न्याय-संगत हो सकता है। नहीं हो सकता—और यह सोचना भी निरर्थक है।

तो इस ओर वे ध्यान भी नहीं देते थे। महाराज सोचा करते थे—वैसे तो मैं अनेकों का पिता हूँ। सम्पूर्ण मेरी प्रजा मेरी सन्तति है और मैं उसका पिता। मगर अपने औपचारिक रूप में—तो, मेरी इच्छा है—जब मैंने अपने ब्रह्मचर्य को खंडित किया ही है—फिर विवाह कर पूर्ण रूप से गृहस्थी बन गया हूँ—तो, धारिणी के साथ के कारण-रूप उत्पन्न होने वाले परिणाम को भी देखूँ। और गृहस्थी होने के नाते ही अपने मन की इस इच्छा के औचित्य को मैं स्वीकार करता हूँ। किसी भी गृहस्थी की यह इच्छा पवित्र और स्वाभाविक है। धर्म की मर्यादा के अन्तर्गत भी—तो इसकी महत्ता में मैं विश्वास करता हूँ।

और धारिणी सोचती थी—विवाह कर वह भार्या बन गई है। वह भार्या है—और भार्या का लक्षण है—वह प्रसव-काल की वेदना का वहन करे। वह बच्चे को जन्म दे—और इस प्रकार माता का पद ग्रहण करे। उसकी गोद भरी-पुरी हो—तो वह भार्या है। तो भार्या के इस लक्षण की पूर्ति भी होनी ही चाहिये। तभी, वह पूर्ण है—तभी वह सर्वांग है।

और वह सोचती—प्रसव-काल की कठिन-कठोर पीड़ा को वहन कर ही नारी नारीत्व धारण करती है। अगर इस बात को और स्पष्ट रूप से कहें—तो कह सकते हैं—पुत्री अथवा पुत्र प्रसव कर नारी अपने सोये हुये नारीत्व को जगा देती है।

वास्तव मे, इस प्रकार उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान कर सब के सम्मुख उपस्थित करती है—और गौरवांवित होती है—तो, उसका रूप निखर जाता है। और इस प्रकार जननी बन वह मा का पद प्राप्त करने के लिये उस ओर आगे बढ़ती है। और अन्त मे एक अच्छी मा बन वह नारी-जन्म की पूर्णता को प्राप्त कर लेती है। उसकी सार्थकता को चरितार्थ कर देती है।

तो, नारी-जीवन का रहस्य उसकी उपयोगिता ही है। और नारी-जन्म मे उपयोगिता का अर्थ है—कल्याणमयी और परम् पवित्र नारी की साधना। घर, समाज और राष्ट्र के लिये—उसकी तपस्या। इस प्रकार उसके पवित्र मन की पुनीत अभिलाषा की पूर्त्ति—तो, उसके चहुँ ओर सुख, शान्ति और आनन्द की अविराम वर्षा।

जिसमे भीग कर सभी सुख, शान्ति और आनन्द का अनुभव करते है—और खुश होते हैं।

तो, मन की यह अभिलाषा पवित्र और आनन्द-दायिनी है—तो, इसके औचित्य मे मेरा विश्वास अखड है। फिर, पवित्र अन्त करण वाले महाराज और समूचा ससार भी इसकी पवित्रता मे विश्वास करते हैं—तो, मैं भार्या बनी हूँ—तो, जननी और मा भी बनूँगी—ससार के कल्याण के लिये। मन की पवित्र अभिलाषा की पूर्त्ति के निमित्त। भार्या का मेरा रूप सर्वाङ्ग और सुन्दर हो—इसलिये। फिर, क्योंकि यह धर्म की मर्यादा के अन्तर्गत् है—तो, यह सत्य है। पवित्र है—और कल्याणकारी भी।

और सत्य पवित्र और कल्याणकारी मार्ग पर आगे बढ़ना मुझे अच्छा लगता है। फिर सत्यनिष्ठ, परम पवित्र और जीव-मात्र का कल्याण चाहने वाले अपने पति की मैं अनुगामिनी हूँ। उनका प्रत्येक शब्द मेरे लिये आज्ञा है—और मैं उनकी आज्ञा का पालन करना अपना धर्म समझती हूँ—तो इस मार्ग पर मैं आगे बढ़ूँगी।

पूर्ण मनोयोग के साथ इस ओर मैं आगे बढ़ूँगी।

वसुमति का जन्म

५

तो, धारिणी का विश्वास उससे रोज़ यही कहा करता था—जब तुम पत्नी बनी हो—धारिणी, तो जननी और माता भी बनोगी। जननी और माता—तो, सर्वाङ्ग-पूर्ण एक आदर्श भार्या। यह सत्य है—कि तुम्हारे मन की यह अभिलाषा स्वाभाविक और तुम्हारी मर्यादा की रक्षा करने वाली है। तुम्हारे और महाराज के सुख को बढ़ाने वाली—फिर, लोक-कल्याण करने वाली भी—तो, परम् धार्मिक और पूर्ण सात्विक। और यह निश्चय ही पूर्ण होगी। तुम जननी और माता ज़रूर बनोगी—धारिणी। ज़रूर बनोगी।

और पति की सेवा मे सदा तत्पर रहने वाली धारिणी का मन अपने विश्वास की इस बात को सुन प्रतिदिन पुलकित हो उठता था। वह उसे हँसता-सा जान पड़ा करता था—और वह ध्यानमग्न हो सोचा करती थी—मेरा विश्वास मुझसे सत्य ही कहता है। मैं जननी और माता ज़रूर बनूँगी। जननी और माता! तो, पत्नि बनने का फल मुझे मिल जायेगा। इस प्रकार मैं जान पाऊँगी—मेरा रक्त विषमय है—या अमृतमय!

अब तक मैंने जो-कुछ भी किया है—वह सात्विक है या कुत्सितता से परि-पूर्ण। धार्मिक है या धर्म से बहुत दूर। वास्तविक है या वास्तविकता से परे कोई प्रपंच-मात्र। सत्य है या असत्य।

तो उसका मन उससे पूछता—ऐसी शंका करने का कारण धारिणी! और धारिणी अपने मन के इस प्रश्न को सुन चुप हो जाती। तो, वह कहने लगता—तुम्हारी यह शंका निर्मूल है, धारिणी! तुम विश्वास करो—तुम जननी और माता अवश्य बनोगी। फिर, एक अच्छी माता—जो तुम्हारा रक्त विषमय नहीं—वह अमृत से भरा है। वह कुत्सितता से परिपूर्ण नहीं वह सात्विक और परम् पवित्र है। उसे धर्म का संरक्षण प्राप्त है। वह सत्य है—और सत्य प्रपंच नहीं होता, धारिणी! वह केवल सत्य होता है। तो तुम निश्चिन्त रहो धारिणी! तुम निश्चिन्त रहो।

और अपने मन की इस बात को सुन कर धारिणी खुशी से फूली नहीं समाती थी।

फिर, वह सोचा करती—पुत्र हो या पुत्री—मैं चाहती हूँ वह अखंड ब्रह्मचर्य का पालन कर संसार में साधु-धर्म की महत्ता को बढ़ाये। वह सत्य का पालन करे। अचौर्य और परिग्रह की भावना से दूर रहे। जीवन उसका धर्म-मय हो—तो पवित्र और अमृत से भरा-पूरा! और वह संसार पर अमृत की वर्षा करता हुआ निरन्तर उस मार्ग पर चला बढ़े जो मोक्ष की ओर जाता है। जहाँ पहुँच कर आत्मा परमात्मा बन जाती है। वह कर्मों के बन्धन से मुक्त होजाती है। वह संसार

में सरकारी वातावरण को जगा जाती है—और मोक्ष-पद प्राप्त कर लेती है।

और तब उसका मन उससे कहता–ऐसा ही होगा, धारिणी। ऐसा ही होगा।

और धारिणी आत्म-सन्तोष की एक साँस लेकर खिलखिलाकर हँस पड़ती—तो, अन्त पुर का वह कमरा उसके सात्विक हास्य से गूँजने लगता और बहुत देर तक गूँजता रहता। मगर तभी महाराज वहाँ पहुँचकर उससे कहने लगते–सच धारिणी, तुम्हारी यह पवित्र हँसी मुझे बहुत अच्छी लगती है। बहुत अच्छी–और मेरा मन मुझसे कहता है—कि मैं तुमसे कहूँ–तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। तुम निकट-भविष्य मे ही एक सर्वाङ्ग-पूर्ण भार्या और एक अच्छी मा बनोगी। जब तुम धर्म के मर्म को समझने वाली एक आदर्श महिला हो तो, तुम्हारी आशा निश्चय ही विश्वास बनेगी—क्योंकि, वह स्वाभाविक है और मन के आनन्द को बढ़ाने वाली भी। फिर, लोक का कल्याण करने वाली भी—तो, वह निश्चय ही पूर्ण होगी। शीघ्र ही पूर्ण होगी।

और पति के ये शब्द धारिणी मे परमानन्द का सचार कर देते—और वह श्रद्धा से नत-मस्तक हो महाराज के चरणों में झुक-सी जाती। फिर, पति का वरद् हस्त उसके शीश के ऊपर उठकर उसे आशीर्वाद देता–तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो। तुम सर्वाङ्ग-पूर्ण भार्या—और एक आदर्श मा बनो, धारिणी। मेरा आशीर्वाद, मेरा सहयोग तुम्हारे साथ है।

और कुछ ही दिनों के बाद—एक दिन,

पति-परायणा धारिणी को ऐसा ज्ञात पड़ा—जैसे उसने कुछ पा-लिया है। उसे कुछ मिल गया है—तो, उसका स्वप्न साकार रूप धारण कर रहा है। और वह-कुछ, जो कुछ उसने पा-लिया है—वही है, जिसकी वह इच्छा करती थी। जिसे वह पा-लेना चाहती थी—और वह उसे मिल गया है। तो उसका मन नदी की भाँति तरंगित हो उठा है और वह बहुत खुश है, इसलिये—क्योंकि, अब वह एक सर्वांग-पूर्ण भार्या और एक अच्छी माँ बन सकेगी—तो उसका गृहस्थ-जीवन सार्थक हो जायेगा। मानव-समाज के कल्याण के लिये पति की ओर से वह संसार को अपनी भेंट दे सकेगी—और वह खुश है। उसका नारीत्व सजग हो उठा है—वह जाग गया है और विकास को प्राप्त हो रहा है—उसके गृहस्थ-जीवन की उपयोगिता को बढ़ा देने के लिये, उन दोनों के योग के उज्ज्वल-स्वरूप को प्रकट करने के लिये—फिर, विवाहित जीवन की सार्थकता को चरितार्थ करने के लिये—तो वह खुश है। बहुत खुश।

और जब यह सब-कुछ महाराज ने सुना—तो उनके हर्ष की कोई सीमा न रही। उनका रोम-रोम पुलकित हो उठा। तो वह पवित्र अन्तःकरण वाली शुद्ध-आत्मा धारिणी से कहने लगे—इस शुभ-समाचार को सुनकर मैं बहुत अधिक प्रसन्न हुआ हूँ—तो मेरा आशीर्वाद तुम ग्रहण करो। और वह सुन-कर धारिणी महाराज के चरणों में झुक-सी गई—तो वह कहने लगे—तुम धर्म-परायणा एक आदर्श भार्या हो—तो, तुम्हारी कोख से उत्पन्न होने वाली वह विभूति भी संसार के लिये मंगलमय हो। हमारे योग के कारण-रूप उत्पन्न होने वाला वह फल संसार में धर्म का विस्तार करे। उसका जीवन

सुखमय और पवित्र बना दे। लोक के कल्याण के लिये वह जन्म ग्रहण करे—और अपने सच्चे धर्म का पालन करता हुआ अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर ले। वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाये। वह आत्मा से परमात्मा बन जाये।

और अन्त में वह कहने लगे—और मुझे तुम पर विश्वास है—धारिणी! और मैं निश्चिन्त हूँ।

फिर, महाराज अन्त पुर से चले गये—तो, पति के शुभ आशीर्वाद की अमृतमय वर्षा के बीच पतिव्रता धारिणी अपने कर्त्तव्य-पथ पर आगे बढ़ी। उसके आदर्श पति का आशीर्वाद उसके साथ था—और उसका अपना मन भी उसका साथ दे रहा था। तो, वह अविचलित भाव से परम पवित्र और आदर्शमय अपने कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ती ही चली गई। इस आशा और दृढ़ विश्वास के साथ कि उसकी सफलता निश्चित है। वह अपने लक्ष्य को निश्चय ही प्राप्त कर लेगी।

तो, वह खुश थी—बहुत खुश!

और उसकी इच्छा थी—उसके गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और साधु-धर्म का पालन करने वाला हो। और जब वह आत्मा की शुद्धि के उस मार्ग पर अग्रसर हो—तो, वह मार्ग की कठिनाइयों से घबराकर अपने धर्म से विचलित न हो जाये। ससार पर अमृत की वर्षा करता हुआ वह निरन्तर और गति-हीन हुये बिना अपने मार्ग मे आगे बढ़े—और अन्त मे अपने लक्ष्य को प्राप्त करले। वह शुद्ध-बुद्ध बन जाये। आत्मा से परमात्मा।

पति-परायण धारिणी को ऐसा जान पड़ा—जैसे उसने कुछ पा-लिया है। उसे कुछ मिल गया है—तो उसका स्वप्न साकार रूप धारण कर रहा है। और वह-कुछ, जो कुछ उसने पा-लिया है—वही है, जिसकी वह इच्छा करती थी। जिसे वह पा-लेना चाहती थी—और वह उसे मिल गया है। तो उसका मन नदी की भाँति तरंगित हो उठा है और वह बहुत खुश है, इसलिये—क्योंकि, अब वह एक सर्वाङ्ग-पूर्ण भार्या और एक अच्छी माँ बन सकेगी—तो, उसका गृहस्थ-जीवन सार्थक हो जायेगा। मानव-समाज के कल्याण के लिये पति की ओर से वह संसार को अपनी भेंट दे सकेगी—और वह खुश है। उसका नारीत्व सजग हो उठा है—वह जाग गया है और विकास का प्रश्न हो रहा है—उसके गृहस्थ-जीवन की उपयोगिता को बढ़ा देने के लिये उन दोनों के योग के सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये—फिर, विवाहित जीवन की सार्थकता को चरितार्थ करने के लिये—तो वह खुश है। बहुत खुश!

और जब यह सब-कुछ महाराज ने सुना—तो उनके हर्ष की कोई सीमा न रही। उनका रोम-रोम पुलकित हो उठा। तो वह पवित्र अन्तःकरण वाली शुद्ध-आत्मा धारिणी से कहने लगे—इस शुभ-समाचार को सुनकर मैं बहुत अधिक प्रसन्न हुआ हूँ—तो मेरा आशीर्वाद तुम ग्रहण करो। और वह सुन-कर धारिणी महाराज के चरणों में झुक-सी गई—तो, वह कहने लगे—तुम धर्म-परायण एक आदर्श भार्या हो—तो तुम्हारी कोख से उत्पन्न होने वाली वह विभूति भी संसार के लिये मंगलमय हो। हमारे योग के कारण-रूप उत्पन्न होने वाला वह फल संसार में धर्म का विस्तार करे। उसका जीवन

बाल्यकाल और शिक्षा

तो, पति के आशीर्वाद को सार्थक करने के लिये—फिर अपनी इच्छा की पूर्ति के निमित्त—इस बार के अपने अभ्यास में उसने और भी वृद्धि करदी। अब वह अपना अधिक से अधिक समय धर्म-चर्चा करने, मंगलमय चरित्रों को सुनने और उन पर मनन करने में ही व्यतीत करने लगी। और यह सब कुछ करते हुए वह एक अनोखे आनन्द, एक अनोखी तृप्ति का अनुभव करती थी—और खुश होती थी।

और इस पुनीत वातावरण में गति महसूस करता हुआ उसका गर्भ दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होने लगा। वह जीवन धारण करने लगा।

फिर एक शुभ दिन—

महाराज का आशीर्वाद सफल हुआ। धारिणी की इच्छा पूर्ण हुई। उसने शुभ घड़ी में पवित्र लक्षणों वाली एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया—और वह सर्वांग-पूर्ण भार्या जननी और माँ बन गई। तो महाराज दधिवाहन और महारानी धारिणी का गृहस्थ-जीवन सार्थक हो गया। अंगदेश के महाराज की राजधानी चम्पापुरी उस दिन आनन्द में डूब-सी गई। दिन के आकाश में वह चंचल हो उठी—और उस दिन वाली रात का वह असंख्य दीपों के प्रकाश से जगमग-जगमग करने लगी। फिर, यह क्रम कई दिन और रात चलता रहा—और अंगदेश की प्रजा अपनी इस खुशी में आनन्द-विभोर हो उठी।

और पुण्यवती अपनी इसी कन्या का नाम महाराज और महारानी ने वसुमति रक्खा।

ससार के लिये भी वरदान-रूप हो। वह विश्व के लिये जाज्वल्यमान प्रकाश की एक किरण बने—तो, ससार-भर की अराजकता नष्ट हो जाये। दुनियाँ का स्वरूप ही वदल जाये—और वसुमति अमर हो।

और तभी, वह देखती है—वसुमति जग गई है। उसने अपनी आँखें खोलदी है—तो, वह हँस पड़ती है। फिर, दो वर्ष की वसुमति भी—और धारिणी का हृदय आनन्द से भर जाता है। फिर, वह अपने उस आनन्द को अपनी विटिया पर उडेल देती है। वह उसे चूमती है और चूमती ही चली जाती है—तो, वसुमति का मुँह लाल पड़ जाता है। मगर वह खुश है—और धारिणी उसे अपनी गोदी मे उठा लेती है—फिर, वह वहुत खुश है—तो, उसके हँसते हुये मुख को देखकर धारिणी खुशी से फूली नहीं समाती है। वह सोचती है—उसकी वेटी एक अच्छी वच्ची है। सोकर उठती है—तो, वह रोती नहीं—इसके विपरीत वह मुस्कराती और हँसती है—तो, उसकी यह मुस्कराहट और यह हँसी उसके हृदय की शान्ति की द्योतक है। और यह सोच कर धारिणी वहुत खुश है।

और पुत्री की वाल-लीलाओं को देख-देखकर महाराज दधिवाहन अपनी आत्मा मे एक अचिन्तनीय सुख का अनुभव करते है। वह उसे घटों खिलाते है—उसके साथ घटों खेलते है। उसके साथ हँसने, उसके साथ वोलने और उसके साथ खेलने मे वह विल्कुल वसुमति वन जाते है—तो, पुत्री वसुमति उन्हें वहुत सुख देती है। वह उन्हें अपनी वाल-सुलभ-क्रीडाओं से

अपनी रानी बिटिया के मुख को अपलक निहारती हुई उस समय बहुत कुछ सोचा करती।

वह सोचा करती—वसुमति मेरी बिटिया—मेरे अभाव की पूर्ति है। मेरे पेट से उत्पन्न होकर उसने मुझे गौरव प्रदान किया है। उसने मुझे जननी और माँ बना दिया है—तो, मैं सभी अभावों से मुक्त एक आदर्श भार्या बन गई हूँ। वसुमति के रूप में मेरे आदर्श पति महाराज दधिवाहन का आशीर्वाद सफल हुआ है। उनका वचन पूरा हुआ है—तो मैं स्वयं को धन्य मानती हूँ। मैं स्वयं को गौरव-शालिनी समझती हूँ। वास्तव में वसुमति ने मेरे जीवन में स्पन्दन भर दिया है। उसके भविष्य में आनन्द की पल-लहरी प्रवाहित करती है। यह सत्य है और अमोघ फल के देने वाली भी—तो मैं सम्पूर्ण हो गई हूँ। मैंने सब-कुछ पा लिया है—और मेरा स्त्रीत्व सार्थक होगया है। विवाहित जीवन का फल मुझे मिल गया है—और मेरा मन नई आशाओं नई उमंगों से भर गया है—तो मुझे विश्वास होता है—मैं अपने लक्ष्य को पाऊँगी। उसे प्राप्त कर लूँगी। उस तक पहुँच जाऊँगी—और जीवन का मेरा प्रयत्न सफल होगा।

वसुमति अभी बहुत छोटी है—तो क्या हुआ—उसके संस्कार एक-दम स्पष्ट हैं। वे उत्तम भक्तों की भाँति स्वच्छ हैं—और उनका प्रकाश सत्य [illegible] शाश्वत है। तो मैं जानती हूँ—मेरी आशा विश्वास में परिणित हो जावेगी—और वह सत्य में बदल जायेगा। तो, नन्हीं मुन्नी वसुमति मेरे भाग्य बनकर आई है—और मैं चाहती हूँ, वह

वह समूचे अन्त पुर, अन्त पुर की वृक्षवाटिका और उसके बाहर भी घूम लेती, मगर अब वह थकती न थी। फिर, अब उसे किसी के सहारे की भी आवश्यकता नहीं होती थी। इधर-उधर की सभी चीजों को देख लेने की उसमे जिज्ञासा उत्पन्न हो गई थी—और अपने उसी चाव को पूरा कर लेने के लिये वह सभी ओर दौड़ लगाती थी—और थकती न थी। शरीर उसका विकास को प्राप्त हो चला था—और अब वह गुडिया-सी बिटिया के स्थान पर मुन्नी वसुमति अधिक जान पड़ने लगी थी। फिर, उसकी अच्छी मा ने उसे और भी अनेक बातें सिखा दी थीं। भोजन करते समय मुँह बन्द रखना, भोजन को खूब चबा-चबाकर निगलना, अपने से बड़ों को अभिवादन करना, अपनी प्रत्येक वस्तु को सँभालकर रखना, फूल तोड़ना—तो, इस प्रकार तोड़ना, जिससे उस वृक्ष को कोई हानि न पहुँचे, उसे कष्ट भी अधिक न हो—और मा द्वारा बताई गई इन बातों को वसुमति बहुत अच्छी तरह से सीख गई थी।

वसुमति के स्वर मे मिठास है—उसकी ओर से सदा सजग रहने वाली उसकी मा ने एक दिन ऐसा अनुभव किया—और उसने सोचा—तो, वसुमति सगीत-कला को बड़ी सुगमता से सीख सकती है। उसका स्वर मीठा है—तो, वह ताल और लय से युक्त भी बड़ी सरलता से हो सकता है—और तब उस स्वर की मिठास और भी अधिक बढ़ जायेगी। और यह सोचकर उसने शीघ्र ही वसुमति को सगीत-कला सिखाने के लिये उचित प्रबन्ध भी कर दिया। फिर, कुछ ही

आत्म-विभोर कर रही है—हां, पिता दधिवाहन का सुख फिर अपनी चरम-सीमा पर जा-पहुँचता है। और अपने इस सुख में वह एक कैसी मिठास एक कैसी शान्ति और आत्म-तृप्ति का अनुभव करते हैं—कि जिसका वह वर्णन नहीं कर सकते। तो इस विषय में धारिणी से वह केवल इतना ही कहते हैं - अब आकर गृहस्थ-जीवन का सच्चा सुख, उसका वास्तविक आनन्द जो मुझे मिल पा-रहा है—धारिणी, मैं उसमें अपने विवाहित जीवन की सार्थकता के दर्शन कर उसकी उपादेयता को भली प्रकार से समझ रहा हूँ। तुमने वसुमति को जन्म देकर विवाहित-जीवन की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है। उसमें मेरे विश्वास को चिरस्थायी बना दिया है। पुत्री वसुमति मुझे बहुत सुख देती है—और मैं बहुत सुखी हूँ।

और पति-परायणा, धर्म-शीला धारिणी अपने पति के इन शब्दों को सुनकर कृत्य-कृत्य हो जाती है।

तो वसुमति इस प्रकार दिन-प्रतिदिन माता-पिता को मुदित-मन करती हुई अपनी अवस्था के मार्ग में निरन्तर आगे बढ़ी। रातें बीतती गईं—और दिन आते गये—और वसुमति भी अपने वेग से बराबर आगे ही बढ़ती चली गई। दो तीन चार पाँच—वह पाँच वर्ष की होगई—और इस बीच उसने सीखने-योग्य काफी सीख भी लिया! अटक-अटक कर बोलने के स्थान पर अब वह सभी बातें साफ बोल लेती थी। पहिले वह किसी की सहायता लेकर मुश्किल से चल पाती थी—और सो भी कुछ ही कदम कुछ ही दूर—मगर अब

वह समूचे अन्त पुर, अन्त पुर की वृक्षवाटिका और उसके बाहर भी घूम लेती, मगर अब वह थकती न थी। फिर, अब उसे किसी के सहारे की भी आवश्यकता नहीं होती थी। इधर-उधर की सभी चीजों को देख लेने की उसमे जिज्ञासा उत्पन्न हो गई थी—और अपने उसी चाव को पूरा कर लेने के लिये वह सभी ओर दौड लगाती थी—और थकती न थी। शरीर उसका विकास को प्राप्त हो चला था—और अब वह गुडिया-सी बिटिया के स्थान पर मुन्नी वसुमति अधिक जान पडने लगी थी। फिर, उसकी अच्छी मा ने उसे और भी अनेक बातें सिखा दी थीं। भोजन करते समय मुँह बन्द रखना, भोजन को खूब चबा-चबाकर निगलना, अपने से बड़ो को अभिवादन करना, अपनी प्रत्येक वस्तु को सँभाल कर रखना, फूल तोड़ना—तो, इस प्रकार तोड़ना, जिससे उस वृक्ष को कोई हानि न पहुँचे, उसे कष्ट भी अधिक न हो—और मा द्वारा बताई गई इन बातों को वसुमति बहुत अच्छी तरह से सीख गई थी।

वसुमति के स्वर मे मिठास है—उसकी ओर से सदा सजग रहने वाली उसकी मा ने एक दिन ऐसा अनुभव किया—और उसने सोचा—तो, वसुमति सगीत-कला को बड़ी सुगमता से सीख सकती है। उसका स्वर मीठा है—तो, वह ताल और लय से युक्त भी बड़ी सरलता से हो सकता है—और तब उस स्वर की मिठास और भी अधिक बढ़ जायेगी। और यह सोचकर उसने शीघ्र ही वसुमति को सगीत-कला सिखाने के लिये उचित प्रबन्ध भी कर दिया। फिर, कुछ ही

दिनों के बाद उसने देखा—उसका वह विचार ठीक था। वास्तव में वसुमति उतने थोड़े-से दिनों में ही इस विषय में बहुत-कुछ सीख गई थी। वह राग-रागिनियों से परिचित हो गई थी—और उनमें से दो-एक को तो वह कुछ विशेषता के साथ गा और बजा सकती थी। फिर उस बार वह बड़े चाव के-साथ अभ्यासशील थी। उसके स्वर में मिठास था—और सतत् अभ्यास की सहायता से वह और भी अधिक मीठा—और मीठा ही होता चला जा रहा था। और यह देखकर धारिणी को बहुत सुख हुआ। उसका आनन्द हँस पड़ा—और पिता दधिवाहन का हृदय खुशी से फूल उठा।

तो आग्रहपूर्वक वह धारिणी से कहने लगे—तुम धन्य हो धारिणी! तुम धन्य हो। ऐसे पुत्री-रत्न को जन्म देकर तुमने मेरा गृहस्थ-जीवन सफल कर दिया। फिर, अपने सफल प्रयत्न से तुमने उसे और भी अधिक आकर्षक और भी अधिक उपयोगी बना दिया—तो तुम धन्य हो।

और स्वयं पति के मुख से अपनी प्रशंसा के इन शब्दों को सुनकर धारिणी शर्म से ही सिमट-सी गई। फिर, उसने शीश को उनके चरणों में रख वह आनन्द-विभोर हो उठी। वह गद्‌गद हो गई।

और अपने माता-पिता की इस अपरिमित प्रसन्नता के साथ वसुमति अपने जीवन-पथ पर और आगे बढ़ी। और आगे—तो वह दस-ग्यारह वर्ष की हो गई। और अब आकर वह सीख भी बहुत-कुछ गई। वह समझने भी बहुत-कुछ लगी। इन वर्षों में संगीत और नृत्य-कला भी उसने सीखी—

साथ ही घर-गृहस्थी का प्रत्येक काम-काज भी। संगीत और नृत्य के अभ्यास के साथ-साथ उसने भोजन बनाना, वर्तनों को मॉज-धोकर साफ और शुद्ध करना, घर को बुहारना आदि गृह से सम्बन्धित सभी कार्यों मे निपुणता प्राप्त की। सीना-काढ़ना और कातना-बुनना भी उसे सिखाया गया। विद्याध्यन भी उसने किया। पढने-लिखने और सभी बातों को भली प्रकार से समझ लेने मे उसकी बुद्धि का कौशल अनूठा था। किसी भी बात को एक ही बार समझा देने पर वह उसे भली प्रकार से समझ लेती थी। उसमे प्रतिभा थी—और अपनी अच्छी मा की सहायता से वह उसका पूरा-पूरा उपयोग कर-पारही थी—तो, वह खुश थी।

अब उसे विचारों की गहराई मे पैठ-सकने का भी अच्छा अभ्यास हो गया था। वह अपनी मा के द्वारा बतलाई जाने वाली प्रत्येक बात को बहुत ही ध्यान-पूर्वक सुनती—और एकान्त मे वैठकर उस पर घन्टों मनन करती—फिर, भली प्रकार से समझ लेने पर उसे अपने जीवन का एक आवश्यक अन बना डालती। सभी के प्रतिविनीत और नम्र बनने की शिक्षा धारिणी ने उसे बहुत पहिले ही दी थी—जिससे अहकार से वह बहुत दूर थी। तो, उसका स्वभाव सर्व-प्रिय बन गया था। मधुर-भाषिणी वसुमति की ओर सभी हठात् आकर्षित हो जाते थे। वे उसके साथ वातें कर बहुत अधिक प्रसन्न होते—और उसकी सराहना करते कभी अघाते न थे। वे सोचते—गुणों की खान, मगर कितनी विनीत और कितनी नम्र! अभिमान तो वसुमति को छू भी नहीं गया है। तभी तो

उसकी वाणी में ऐसी मिठास है—कि उसकी बातें सुनते-सुनते जी नहीं भरता—इसके विपरीत मन कहता है कि उसकी बातें सुनते ही रहो—सुनते ही रहो।

और इस प्रकार वसुमति अपने नम्र-स्वभाव और मधुर तथा आकर्षक वार्तालाप की सहायता से सभी का आशीर्वाद ग्रहण करती हुई अवस्था में दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती रही। उसका जीवन नियम-बद्ध था—जिससे वह अपना प्रत्येक कार्य समय पर और बिना किसी भी प्रकार की कठिनाई का अनुभव किये पूरा कर लेती थी। वह समय पर सोती और समय पर ही उठती। फिर, अपना प्रत्येक कार्य निर्धारित समय पर ही कर डालती—तो किसी भी कार्य को करने के लिये उसे समय का अभाव न सताता—और वह सर्वदा प्रसन्न रहती। उससे कोई भी कार्य छूट न पाता—और न अपने किसी भी कार्य के करने में वह दिक्कत ही महसूस करती। उसका जीवन नियम-बद्ध था—और वह सुखी थी।

उसकी अच्छी मां धारिणी ने उसमें सरलता भी कूट-कूटकर भर दी थी—जिसके कारणवश उसका जीवन बहुत ही सीधा-सादा और पवित्र था। तो बनावट की जिन्दगी से वह बहुत दूर थी—फिर, मन उसका ऐसी किसी भी वस्तु की ओर आकर्षित नहीं होता था जो उसके लिये अनावश्यक हो। और वह सोचा करती थी—अगर कोई वस्तु देखने में सुन्दर है—तो इसका अर्थ यह किस प्रकार हो सकता है—कि वह वस्तु उपयोगी भी उतनी ही हो जितनी कि वह सुन्दर है। तो,

सुन्दरता किसी वस्तु की उपयोगिता को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त कारण नहीं है। और जब सुन्दरता किसी वस्तु की उपयोगिता को सिद्ध नहीं कर सकती—तो, अपनी सुन्दरता के कारण ही वह वस्तु फिर ग्राह्य किस प्रकार हो सकती है। नहीं हो सकती—तो, उसकी ओर आकर्षित होना भी निरर्थक है—मनुष्य के मन की प्रपचना-मात्र है—और उसमे बुद्धिमान मनुष्य को नहीं फँसना चाहिये। तो, वसुमति का जीवन बहुत ही सरल और सात्विक था। सीधा सादा और पवित्र।

तो, आडम्बर से शून्य। और वसुमति नितान्त आवश्यकता की वस्तुएँ ही केवल अपने पास रखती थी—और वे भी बहुत ही कम मात्रा मे। तो परिग्रह की भावना से वह बहुत दूर थी। उसका विश्वास था—मनुष्य का चलन सीधा सादा हो और उसके विचार उच्च हों—तो, ऐसा वह मनुष्य महान् है। जीवन की उपयोगिता को वह भली प्रकार से समझता है। तो, वह अपना भी कल्याण करता है और दूसरों का भी। और यही मनुष्य की महत्ता है। उसका बड़प्पन भी यही।

और अपने इसी आदर्श को वसुमति अपने हृदय में सदा सजग रखती थी—जिससे उसका मन उसके वश मे हो गया था—और वह अपने जीवन को बहुत ही सरल, सात्विक और पवित्र बना सकी थी।

निरभिमानता का पाठ भी धारिणी ने अपनी अच्छी बेटी वसुमति को भली प्रकार से पढ़ाया था। जिससे वसुमति के अन्य अनेक गुणों में सुगन्ध उत्पन्न हो गई थी। तो, छोटी सी वसुमति का जीवन भी दूसरों के लिये आदर्श स्वरूप और

अनुकरणीय बन गया था—और सभी उससे स्नेह करने लगे थे। जो कोई उससे एक बार बात कर लेता था—वह उसकी बुद्धिमत्ता सरलता और निरभिमानता पर मुग्ध होकर रह जाता था। वह उससे बार-बार बातें करना चाहता था—और खुश होता था।

और इस प्रकार सबको सुख पहुँचाती हुई वसुमति अबाध गति से अपने जीवन-पथ पर आगे बढ़ रही थी। वह दोषों से रहित; मगर गुणों की खान थी। अपने हाथों में वीणा लेकर जब वह गाने बैठती—तो ऐसा भान पड़ता था—मानो संगीत की देवी मानवी का शरीर धारण कर वहाँ स्वयं उपस्थित हो गई है। और जब वह गाने लगती—तो उसके मधुर स्वर में सब-कुछ डूब रहता। उसका रूप भी मन को मोह लेने वाला और स्निग्ध था। वास्तव में वह अभूतपूर्व और पवित्र लावण्य से युक्त एक सुन्दर बालिका थी। जीवन उसका सीधा और सरल था—और विचार उसके उच्च। वह गृह-कार्य में दक्ष कन्या-धर्म पत्नि-धर्म मातृ-धर्म तथा वैधव्य-धर्म से पूर्णरूप से परिचित कोमल स्वभाव की एक सुकुमारी कन्या थी। अचौर्य और अपरिग्रह की भावना से युक्त वह अपनी माता के द्वारा निर्धारित मार्ग पर बराबर आगे बढ़ रही थी। धीरे-धीरे, मन्थर गति से—उस मार्ग पर—जो मोक्ष का देने वाला और परम पवित्र था।

तो अपना बारहवाँ वर्ष पूरा करते-करते वसुमति एक आदर्श कन्या बन गई थी।

जीवन-दर्शन

अनुकरणीय बन गया था—और सभी उससे स्नेह करने लगे थे। जो कोई उससे एक बार बात कर लेता था—वह उसकी बुद्धिमत्ता, सरलता और निरभिमानता पर मुग्ध होकर रह जाता था। वह उससे बार-बार बातें करना चाहता था—और खुश होता था।

और इस प्रकार सबको सुख पहुँचाती हुई वसुमति अबाध गति से अपने जीवन-पथ पर आगे बढ़ रही थी। वह दोषों से रहित मगर गुणों की खान थी। अपने हाथों में वीणा लेकर जब वह गाने बैठती—तो ऐसा भान पड़ता था—मानो संगीत की देवी मानवी का शरीर धारण कर यहाँ स्वयं उपस्थित हो गई है। और जब वह गाने लगती—तो उसके मधुर स्वर में सब-कुछ डूब रहता। उसका रूप भी मन को मोह लेने वाला और स्निग्ध था। वास्तव में वह अभूतपूर्व और पवित्र लावण्य से युक्त एक सुन्दर बालिका थी। जीवन उसका सीधा और सरल था—और विचार उसके उच्च। वह गृह-कार्य में दक्ष, कन्या-धर्म, पति-धर्म, मातृ-धर्म तथा वैधव्य-धर्म से पूर्णरूप से परिचित, सरल स्वभाव की एक सुकुमारी कन्या थी। अचौर्य और परिग्रह की भावना से दूर, वह अपनी माता के द्वारा निर्धारित मार्ग पर बराबर आगे बढ़ रही थी। धीरे-धीरे, मन्थर गति से—उस मार्ग पर—जो मोक्ष का देने वाला और परम पवित्र था।

तो अपना बारहवाँ वर्ष पूरा करते-करते वसुमति एक आदर्श कन्या बन गई थी।

७

और उन्हीं दिनों—एक दिन,

नित्य के नियम के अनुसार धर्म-शिक्षा के निमित्त पास मे बैठी हुई वसुमति से धारिणी आज कहने लगी—

'तो, कल मैंने तुमसे—पुत्री! आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव के पवित्र चरित्र का वर्णन करते हुए मानव-समाज को सुव्यवस्थित करने के लिये किये गये उनके प्रयत्नों के विषय में कहा था—और आज तुम भगवान् के कठिन तपश्चरण के विषय मे सुनो। वास्तव मे, भगवान् आदिनाथ का निर्मल चरित्र आत्मा को शुद्ध-बुद्ध बना देने वाला और अमोघ फल—मोक्ष का देने वाला है। इसको सुनने से मनुष्य के मन के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं—और वह परम्-आत्मा परमात्मा बन जाता है। तो, भगवान् के परम पवित्र चरित्र को तुम ध्यान-पूर्वक सुनो—पुत्री!'

'और एक क्षण रुक कर वह कहने लगी—'मनुष्य-समाज के कल्याण के लिये जब भगवान ने उसे अपना सभी-कुछ दे

साधना—और इस ओर से वह पूर्ण सन्तुष्ट हो गये—तो एक दिन वैराग्य-रस से ओत-प्रोत उनका मन उनसे कहने लगा—मानव-समाज का क्लेश अब दूर हो गया है। विद्या बुद्धि और सभ्यता की सहायता से अब वह अपने पथ पर निरन्तर आगे बढ़ रहा है—तो अब मैं चाहता हूँ—प्रभो! अब आप मेरी इच्छा को भी पूर्ण करें। मुनि-दीक्षा अंगीकार करें और इस ओर आगे बढ़ें।

'और अपने मन की समयानुकूल यह बात भगवान् को बहुत अच्छी लगी। उन्होंने शीघ्र ही राज्य-शासन का भार भरत बाहुबली आदि अपने योग्य पुत्रों को सौंप उसी क्षण स्वयं मुनि-दीक्षा ग्रहण करली—फिर, चार हजार अपने शिष्यों के साथ, आत्मा की उन्नति के अपने उस मार्ग पर वह आगे बढ़े। अब भगवान् के जीवन का स्वरूप ही बदल गया—और वह एकदम संसार से विरक्त हो गये। फिर कुछ ही दिनों के बाद, वह ऐसी कठोर साधना में लगे—कि, भगवान् के वे शिष्य भी उनका साथ न दे सके और वे उनसे बहुत पीछे रह गये।'

'अब कठोर तपश्चरण ही भगवान् का एक-मात्र साथी था—और वह नितान्त अकेले थे। तो, वह अखण्ड मौन धारण कर, आत्म-चिन्तन के लिये गहन-वन में जाकर खड़े हो गये। अन्न और जल का भी उन्होंने त्याग कर दिया। वास्तव में अब वह उस उग्र और कठिन तप को तप रहे थे जिस कठिन-कठोर तप को कोई विरला ही कर पाता है। वा प्रकृति के भयंकर से भयंकर रूप से बढ़कर उपद्रव भी

भगवान् को अपने व्रत से न हटा सके। उन्होंने उन सभी कष्टों को बहुत ही धैर्य-पूर्वक वहन किया और वह अपनी उस कठोर तपस्या में अविचलित भाव से दृढ़ रहे। भगवान् की तितिक्षा बहुत ऊँची उठ चुकी थी।'

'मगर इस कठिन-कठोर तपस्या में संलग्न हुये जब भगवान को बारह मास समाप्त हो गये—तो, एक दिन उन्होंने सोचा—इस प्रकार निराहार रहकर मैं तो इस कठोर साधना को भलीभाँति कर सकता हूँ। मुझे तो भूख और प्यास नहीं सताती। मगर मेरा अनुकरण कर कल्याण के मार्ग पर आगे बढने वाले वे अन्य साधक बिना अन्न और जल के किस प्रकार जीवित रह सकेंगे—तो, साधना के अपने मार्ग पर ही फिर वे कै दिन आगे बढ़ सकेंगे। ना, उनसे इतना कुछ न हो सकेगा—इसीलिये तो वे चार हजार साधक भी पथ-भ्रष्ट हो गये—वे, अपने मार्ग से दूर चले गये। तो, उन दूसरे साधकों की भलाई के लिये मुझे भी अन्न और जल ग्रहण करना चाहिये। निराहार नहीं रहना चाहिये।'

'और अपने मन में यह निश्चय कर भगवान आहार ग्रहण करने के लिये एक नगर में घुसे, मगर कुछ दिनों तक वह निराहार रहकर ही नगर-नगर घूमते रहे—उन्हें मुनि-वृत्ति के अनुसार निर्दोष आहार कहीं भी न मिला। और सदोप आहार भगवान् ने स्वीकार न किया। वास्तव में, उन दिनों लोग साधु को मनोनुकूल अथवा निर्दोष आहार देना नहीं जानते थे—तो, भगवान् को इसलिये और भी कितने ही दिनों तक निराहार ही रहना पड़ा, मगर उन्हें इसलिये

कोई भी कष्ट न हुआ। वह फिर भी शान्त और सुखी थे।'

'और कुछ ही दिनों के बाद—एक दिन,

हस्तिनागपुर के राजकुमार श्रेयांस ने अपने पूर्व-जन्म के सुकर्मों के फलस्वरूप भगवान की इस बात को समझा—और भगवान् को ईख का रस प्रदान कर उस गौरव को प्राप्त किया, जो साधारण और असाधारण दोनों ही प्रकार के मनुष्यों के लिये बहुत ही दुर्लभ है। तो, पुत्री! उस राजकुमार का जीवन धन्य हो गया।'

'तो इस प्रकार निराहार रहकर—और कभी-कभी आहार ग्रहण कर भगवान् लगातार साधना के मार्ग पर आगे—और आगे ही बढ़ते चले गये। मार्ग की विघ्न-बाधाएँ उन्हें मार्ग-च्युत न कर सकीं—और वह सहज और शान्त भाव से निरन्तर आगे बढ़े। और फाल्गुन कृष्णा एकादशी को वट-वृक्ष के नीचे, भगवान् को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। तो, भगवान् का जीवन धन्य हो गया। उन्होंने सब कुछ खोकर सब कुछ पा लिया।'

'फिर भगवान् धर्म का उपदेश करते हुए नगर-नगर, गाँव-गाँव चारों ओर विचरण करने लगे। गृहस्थियों को वह गृहस्थ-धर्म का उपदेश करते थे और साधुओं को साधु-धर्म का। भगवान् की दृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनों ही बराबर थे—एक समान! इसीलिये उन्होंने स्त्री-पुरुष दोनों के जीवन को महत्ता प्रदान करते हुये चार संघ की स्थापना की—साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका! इस प्रकार आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव मानव-जाति के सर्व-प्रथम उद्धार-कर्त्ता हुये।

'और अन्त में भगवान् ने माघ कृष्णा त्रयोदशी को निर्वाण प्राप्त किया।'

इतना कहकर धारिणी चुप हो गई। अब वह वसुमति के मुख को एकटक देख रही थी। तो, उसका विश्वास उससे कहने लगा—क्या देख रही हो, धारिणी ? क्या अपनी बात का परिणाम ? तो—सुनो, वसुमति जब एक आदर्श कन्या बन सकी है—तो, वह निश्चय ही एक आदर्श मानवी भी बनेगी—यह सत्य है, ध्रुव-सत्य! तो, इतनी त्वरा क्यों ? तुम तो बुद्धिमती हो—और बुद्धिमती होने के नाते इस बात को भली प्रकार से समझती हो—कि जल्दी किसी बात की भी अच्छी नहीं होती—तो, शान्त रहो और धीरज धारण करो। मैं कहता हूँ, वसुमती एक आदर्श मानवी जरूर बनेगी। यह सत्य है—अखण्ड, अटूट और अमिट!

और धारिणी अपने विश्वास की बात को सुनकर मानो सोते से जगी। तो, उसका मन हँस पड़ा—शान्त और निर्मल हँसी! और वह धीरज को धारण कर वसुमति से कहने लगी—'तो पुत्री! आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव का यह निर्मल औरपरम् पवित्र चरित्र लोक-कल्याण के प्रति विश्वास जगाने वाला, मानव को शुद्ध-बुद्ध बना देने वाला और मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त उस ओर के मार्ग पर आगे बढाने वाला है। इस शुद्ध और कल्याण-कारी चरित्र को सुनकर मनुष्य के नेत्र खुल जाते हैं। वह सोते से जग जाता है। फिर, उसे आदर्श-रूप में ग्रहण कर वह मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़ चलता है—और अन्त में आत्मा से परमात्मा बन कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।'

और अपने आज के प्रवचन को इस प्रकार समाप्त कर, मन में शान्ति का अनुभव करती हुई, धारिणी चुप हो गई। आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव के निर्मल चरित्र को सुनकर वसुमति का मन पुलकित हो उठा। वह भगवान के पवित्र जीवन-चरित्र में अपने भविष्य के दर्शन कर आत्म-विभोर हो गई। उसके नेत्र बन्द हो गये और उसका शीश माता के चरणों पर झुक गया।

और धारिणी का विषाद हँस पड़ा।

पाँच महाव्रत

८

माता धारिणी के मुख से आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव का परम पवित्र जीवन-वृत्तान्त सुनकर तरुणी वसुमति की आत्मा मे एक ज्योति-सी जग गई। और उस ज्योति के अखड और उज्ज्वलतम प्रकाश में उसने देखा—एक अनोखी आभा से दीपित उसका भविष्य उससे कह रहा है—अपनी आत्मा की शान्ति और लोक के कल्याण के लिये तुम इसी पथ पर आगे बढ़ो—वसुमति! तुम्हारा मार्ग यही है। तो, चलो चलो—बढ़ी चलो—वसुमति! आदर्श मानवी बन सकीं—तो, कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाओगी। मोक्ष प्राप्त कर लोगी।

और इतना कहकर उसका भविष्य हँस पड़ा—फ़िर, वह अदृश्य हो गया।

तो, वसुमति ने सोचा—जीवन का पथ उसे मिल गया है—और अब उसे इसी मार्ग पर आगे बढ़ना है। वह आदर्श मानवी बन सकी—तो, वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जायेगी। वह मोक्ष प्राप्त कर लेगी।

और दूसरे दिन जब वह नियमानुसार धर्म-शिक्षा के निमित्त माता के चरणों में जाकर बैठी—तो माता से आज्ञा प्राप्त कर उसने पूछा—'माता! मैं आदर्श मानवी बन सकूँ—और कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाऊँ—आज आपके श्री मुख से मैं यही सब-कुछ सुनने की उत्कट अभिलाषा अपने हृदय में पाती हूँ।'

और अपनी पुत्री के मुख से उच्चारित उसके इन शब्दों को सुनकर धारिणी सहसा ही गहरे आत्मानन्द में लीन सी हो गई। फिर, प्रसन्न-मुख वह कहने लगी—'पुत्री! तुम्हारी यह इच्छा अमोघ फल को देने वाली और संसार का कल्याण करने वाली है—तो, तुम्हारी इस इच्छा को जानकर मेरी आत्मा को बहुत सुख हुआ है। वसुमति! संसार में चारों ओर अधर्म का अंधकार व्याप्त है—अगर तुम उसे प्रकाश दे सकी—तो मैं स्वयं को धन्य मानूँगी।'

'तो जो-कुछ मैं तुम से कहती हूँ—उसे ध्यान-पूर्वक सुनो। उस पर मनन करो—और अन्त में उसका पालन कर तुम आदर्श मानवी आदर्श साध्वी बन जाओ। आत्मा से परमात्मा बन जाने के लिये—लोक के कल्याण के लिये।'

और कुछ क्षणों तक मौन रहकर वह कहने लगी—'जब अपने शरीर में एक सूक्ष्म-से काँटे के चुभ जानेपर भी पीड़ा का अनुभव होता है—और कभी-कभी वह पीड़ा एक असह्य वेदना का रूप धारण कर मन को शरीर को बहुत समय तक के लिये दुःख-पूर्ण और पीड़ा-युक्त कर देती है—तो, कोई दूसरा

भी इस प्रकार दुख देने पर उस दुख का ऐसा ही अनुभव करता होगा।'

'तो, वसुमति! यह ठीक ही है, अहिंसा मनुष्य का परम्-धर्म है। और मन से, वचन से, शरीर से किसी भी जीव की हिंसा न स्वॅय करना, न अपनी सम्मति देकर दूसरों से करवाना तथा न हिंसा करने वालों का अनुमोदन करना—वास्तव मे, यही सच्ची अहिंसा है, जिसका पालन करना मनुष्य की मनुष्यता का द्योतक है। उसके मन, वचन और शरीर की पवित्रता का बोधक है। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये किसी जीव का बलिदान करना यह न्याय-सगत नहीं कहा जा-सकता। यह तो मनुष्य की स्वार्थ-बुद्धि का ही परिचायक है-तो—पुत्री! फिर, यह धर्म के ॲग के रूप मे स्वीकार नहीं किया जा-सकता।'

'और, सत्य ही अहिंसा का जीवन है—वसुमति! जिस प्रकार प्राण रहित शरीर अपने धर्म का पालन करने मे पूर्ण रूप से असमर्थ हो जाता है-उसी प्रकार सत्य से हीन अहिंसा झूॅठ मे सनकर अपनी वास्तविकता को खो बैठती है। उस समय हिंसा, अहिंसा का रूप धारणकर मनुष्य की बुद्धि को सहज ही मे धोखे मे डाल देती है—और तब, मनुष्य सची अहिंसा से बहुत दूर हट जाता है-वह अपना सब-कुछ खो देता है। फिर, वह भ्रमित-मन वाला मनुष्य सोचता यह है कि वह अहिंसा—अपने परम्-धर्म का नियम-पूर्वक पूर्ण-रूप से पालन कर रहा है, मगर वास्तव में हो रहा है उससे ठीक उल्टा। फिर, उसे अपने कर्मों का फल भी उसके

अनुमान के अनुसार प्राप्त न होकर, ठीक उसके विपरीत ही मिलता है। तो सत्य ही अहिंसा का जीवन है—उसकी प्राण-वस्तु भी वही।'

फिर सत्य का अर्थ है—मन, वचन और शरीर से न स्वयं झूँठ बोलना—न आचरण ही करना—और न दूसरों से ही बुलवाना—न आचरण ही कराना—और न झूँठ बोलने वाले अथवा झूँठा आचरण करने वालों का अनुमोदन ही करना। और ऐसा वह व्यक्ति, जो अपने सत्य-आचरण का इस प्रकार ध्यान रखता है—वह सत्यवादी और शुद्ध आचरण करने वाला है। वह अपने धर्म का सच्चे अर्थों में पालन करता है। वह शुद्ध बुद्धि वाला धर्मात्मा है।

फिर उस महान् आत्मा वाले व्यक्ति से चोरी-जैसा पाप कभी स्वप्न में भी नहीं हो पाता। जब उसके मन में सच्ची अहिंसा बस कर रह गई है—उसके रोम-रोम में रमी है—तो वह चोरी-जैसा पाप फिर कर भी कैसे सकता है। पवित्र अन्तःकरण वाला और अपने धर्म में आत्म-रूप से लीन हुआ वह व्यक्ति इस बात को भली प्रकार से जानता है कि चोरी करना अथवा किसी की कोई वस्तु बिना उसकी आज्ञा के ले लेना या उस दूसरे की आँखों में धूल झोंककर उसकी किसी भी चीज को अपने अधिकार में कर लेने का अर्थ है—उस दूसरे व्यक्ति के हृदय को ठेस पहुँचाना। उसे उस वस्तु के अभाव में किसी कठिनाई में फँसा देना—तो उसका वह कर्म फिर सच्ची अहिंसा से पूर्ण कैसे कहा जा सकता है। वास्तव

में, यह तो खुले रूप में हिंसा है—जो, उसे रुचिकर नहीं हो सकती। नहीं होगी। नहीं है।'

'तो—पुत्री! ऐसा वह धर्म में परायण रहने वाला व्यक्ति चोरी-जैसा पाप कभी नहीं करेगा—न किसी को चोरी करने के लिये प्रोत्साहित ही करेगा—और न चोरी करने वालों का अनुमोदन ही करेगा।'

'और ऐसे उस धर्म-शील व्यक्ति की शक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करने मे निहित है। ब्रह्मचर्य—अथवा वीर्य-रक्षा मनुष्य के पास एक ऐसा साधन है, जो, मनुष्य मे ओज की सृष्टि कर उसमे जीवन जगा देता है। और वही ओज फिर धर्म की शालीनता के साथ मिलकर उस मनुष्य के शरीर मे से प्रकाश की उज्ज्वल किरणों के रूप मे फूट निकलता है। तब, उस मनुष्य का सौम्य मुख एक अनोखी आभा से दमदमकर दमकने लगता है—और सभी उस मनुष्य के सम्मुख फिर नत-मस्तक हो जाते हैं। और इस तरह उस मनुष्य का जीवन फिर इस जगत् मे धन्य माना जाता है।'

'तो—पुत्री! ब्रह्मचर्य का अर्थ है—अपने धर्म की रक्षा के निमित्त, धर्म का पालन करने के लिये और सच्चे अर्थों मे धर्म-शील बनने के हेतु—अपनी शक्ति का ह्रास न होने देना। स्वयं में ही उसे रोक रखना—और इस प्रकार व्यभिचार की ओर प्रेरित करने वाली अपनी कुबुद्धि से अपनी रक्षा करना।'

'तो—ऐसा वह धर्मशील व्यक्ति मन, वचन और शरीर से न स्वयं ही व्यभिचार की ओर अग्रसर होता है, न किसी

जन्म को ही इस ओर प्रेरित करता है—और न व्यभिचार करने वालों का अनुमोदन ही करता है।

'फिर ऐसा वह साधु-वृत्ति वाला मनुष्य परिग्रह की भावना से भी बहुत दूर रहता है। वह जानता है, धन अनेक पापों के लिये बीज-रूप है। धन का संग्रह करने वाले मनुष्य से सभी प्रकार के पाप बड़ी सुगमता से पूर्ण हो जाते हैं। ऐसे उस मनुष्य की बुद्धि सदाँ चलायमान रहती है—और किसी के प्रति हिंसा का व्यवहार कर डालना झूँठ को सत्य बतला तथा धन को प्राप्त करने के लिये—अथवा अपने पास वाले धन की वृद्धि के निमित्त चोरी भी कर लेना—अथवा करवा लेना व्यभिचार की ओर प्रेरित होना—ये सब पाप वह चलायमान बुद्धि वाला मनुष्य अनायास ही कर डालता है—और इस तरह वह सच्चे-धर्म से बहुत दूर हट जाता है।'

'तो धर्म-परायण और पवित्र आचरण करने वाला मनुष्य पापों के बीज-रूप धन को अपने पास नहीं रखता न किसी को धन रखने के लिये वह प्रेरित ही करता है और न धन रखने वालों का वह अनुमोदन ही करता है।

'और ऐसा वह मनुष्य साधु है—पुत्री! जिसके मन में सच्ची अहिंसा सदाँ सजग रहती है। जो इस संसार में केवल इसीलिये जन्म ग्रहण करता है—कि वह इस संसार के पापों से दूर रहकर यहाँ पर धर्म की प्रतिष्ठा को बढ़ाये—धर्मानुसार आचरण करे और दूसरों के लिये उदाहरण बन कर रह जाये। उसका प्रत्येक कर्म लोक-कल्याण की भावना

से ओत-प्रोत हो—और जीव-मात्र के साथ वह दया का व्यवहार करे। ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ वह अचौर्य और परिग्रह जैसे—पापों से सदाँ दूर रहे। तप और त्याग की कठोर साधना मे लीन रहकर ही वह अपना समूचा जीवन व्यतीत करदे। आध्यात्मिक साधना की अराधना करना ही जिसके जीवन का लक्ष्य हो—और जो सोते-जगते, खाते-पीते, बैठते-उठते—हर समय, प्रतिपल केवल अपनी साधना का ही ध्यान रक्खे—और आनन्द-मग्न होकर अपने प्रत्येक कर्म को करे। इस प्रकार जीवन जिसका पवित्र हो—और सुख-दुख मे जो सम-भाव रहे। अपनी इन्द्रियों को जो अपने वश मे करले—और अपने मन मे, वचन मे और शरीर में—जो, अज्ञान के अन्धकार को उत्पन्न न होने दे।'

और एक क्षण के मौन के पश्चात् अन्त मे वह कहने लगी—'अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य और अपरिग्रह—ये पाँच महाव्रत हैं—पुत्री। जो मनुष्य इन पाँच महाव्रतों को मन, वचन और शरीर मे धारण करता है, वह लोक का कल्याण करता हुआ निरन्तर और गति-हीन हुये बिना धर्म के मार्ग पर आगे—और आगे ही बढ़ता चलता है। बढ़ता चलता है—और अन्त में मोक्ष के मन्दिर मे पहुँचकर वह ठहर जाता है। वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।'

और अपने कथन को इस प्रकार समाप्त कर धारिणी मौन हो गई—तो, वसुमति के नेत्र चमकने लगे—और वह गहरे आत्म-सन्तोष के साथ माता के चरणों में वन्दना कर अपने कक्ष की ओर चली। लोक-कल्याण के लिये—अपनी

आत्मा की शुद्धि के निमित्त—धर्म के मार्ग पर वह आगे बढ़ सके—पाँच महाव्रतों के रूप में उसे मूलमन्त्र मिल गया था—और वह खुश थी।

और उसके मार्ग में वह साथ रही थी—एक दिन माँ ने कहा था—जीव को यह मनुष्य-योनि बड़ी मुश्किल से मिलती है—जब उसके पुण्य उदय होते हैं—तब ! तो वसुमति इसे व्यर्थ में ही न गवाँ देना। अगर ब्रह्मचारिणी रहकर भूली-भटकी अपनी बहिनों को मार्ग पर ला सको—तो, तुम्हारा यह जीवन धन्य हो जायेगा—वसुमति ! विवाह एक बन्धन है—पुत्री ! अगर हो सके तो इस बन्धन को स्वीकार न करना—और अगर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन न कर सको तो नीति-पूर्ण सुखी और धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिये विवाह के बन्धन को ग्रहण करना—पुत्री ! और उस बन्धन से उन्मुक्त होने के लिये पतिव्रत-धर्म ऋतु-धर्म तथा विवाह-धर्म का पालन करना। विवाह को केवल विषय-भोग का ही साधन न मान लेना—वसुमति ! फिर तो तुम मर्यादित गार्हस्थ्य जीवन ही व्यतीत करना—पुत्री

मगर अन्त में माँ ने कहा था—मगर मुझे अपनी अच्छी पुत्री की शक्ति पर भरोसा है—मुझे विश्वास है—वसुमति अपने और लोक के कल्याण के लिये विवाह न करेगी। वह पूर्ण रूप से ब्रह्मचारिणी रह कर इस संसार में अपने जीवन को धन्य कर जायेगी। और अन्त में अमर पद को प्राप्त कर अमर हो जायेगी।

और अपनी अच्छी मा के इन शब्दों को याद कर वसुमति की आत्मा आनन्द से भर उठी। तो, उसका पवित्र मन उससे कहने लगा—मैं तुम्हारे साथ हूँ— वसुमति! तुम निश्चिन्त होकर अपनी मा के द्वारा निर्धारित मार्ग पर आगे बढ़ो—और मा के विश्वास को सत्य मे परिणित कर दो। मैं तुम्हारे साथ हूँ—वसुमति! मैं तुम्हारे अधिकार में हूँ—वसुमति!

और मन की यह बात अच्छी वसुमति को बहुत अच्छी लगी—तो, वह कमल-कली के समान खिल-सी उठी।

और तभी सत्य के प्रकाश मे उसने देखा—करुणावती अहिंसा उसके सम्मुख खड़ी है। रूप उसका मनोहर है। मुस्कान उसकी मधुर है—और पवित्र। उसके नेत्र करुणा से ओत-प्रोत हैं। उसके दोनों हाथों मे जीवनदाता अमृत के दो कलश है—जिनसे आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण की दो धाराएँ फूट निकल वसुमति की ओर बढ़ी चली आ-रही हैं। उसके मुख पर ब्रह्मचर्य का ओज प्रकाशित हो रहा है—और वह दमदम कर दमक रही है। और तभी उसने सुना—वह दयावती उससे कहने लगी—ब्रह्मचर्य मेरी शक्ति है—वसुमति! और सत्य मेरा जीवन! फिर, लोक-कल्याण की पवित्र भावना ही मेरी आत्मा! और करुणा मेरे मन की एक-मात्र लगन! तो, अपने दोनों हाथों से संसार पर अमृत की वर्षा करना ही मैं अपना परम्-धर्म समझती हूँ।

इतना कहकर वह कल्याणी चुप हो गई—और उसके पवित्र रूप के अनायास ही दर्शन कर वसुमति का मन पुलकित

हो उठा। फिर, प्रार्थना कर उसने कहा—महादेवी! मैं आपकी शरण में हूँ।

और वसुमति ने अपना शीश महादेवी के चरणों में रख दिया—तो अहिंसा उसके रोम-रोम में समा गई—और वह धन्य-धन्य हो गई।

और तब धारिणी का विश्वास उससे कह रहा था—वसुमति एक आदर्श मानवी जरूर बनेगी—धारिणी! यह सत्य है, ध्रुव-सत्य!

आदर्श साधु

९

फिर, कुछ ही देर के बाद—

अहिंसा को उसके सच्चे रूप मे धारण कर वसुमति अपने कक्ष में बैठी हुई सोच रही थी—मनुष्य-योनि बड़ी मुश्किल से मिलती है—जब पुण्य उदय होते हैं, तब। और अगर इसे स्वार्थों मे लिप्त रहकर ही गॅवा दिया—तो, न जाने कब तक के लिये अपना सब-कुछ खो दिया। तो, अगर यह प्राप्त हो गई है—तो, इसे व्यर्थ मे ही नष्ट कर देना जीवन की सबसे बड़ी भूल है—और वसुमति ऐसा नहीं करेगी। जब मां की सहायता से उसे मार्ग मिल गया है—फिर, उस मार्ग पर बढ़ चलने के लिये मूल-मन्त्र भी—तो, *आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण* के इस पथ पर वह निश्चय ही अग्रसर होगी।

फिर, उसकी अच्छी मा की तो यह इच्छा है—उसकी पुत्री एक आदर्श मानवी बने। परहित और अपनी आत्मा के कल्याण के लिये वह अखड ब्रह्मचर्य का पालन करे—और एक आदर्श साध्वी बन संसार मे नारी के इस नवीन गौरव

की स्थापना करे—और इस प्रकार आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव की आज्ञा का पालन कर कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाये। जीवन-मरण के चक्कर से छूट जाये—तो आत्मा से परमात्मा बन जाये।

और उसे विश्वास है—धर्मशील उसके पिता भी उसे यह गौरव प्राप्त करने के लिये सहर्ष आज्ञा दे देंगे। वह उसे रोकेंगे नहीं—कल्याण के पथ पर वह उसे जाने देंगे। वह एक आदर्श मानव और एक आदर्श राजा हैं। मन उनका पवित्र है और जीवन सात्त्विक—तो, लोक के कल्याण के लिये वह सदा तत्पर रहते हैं। फिर, वह तो साधु-वृत्ति वाले एक आदर्श पिता हैं—तो वह उसे नहीं रोकेंगे—वह उसे जाने देंगे।

तो आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के इस पथ पर वह निश्चय ही अग्रसर होगी। वह आदर्श श्रमणी—आदर्श साध्वी जरूर बनेगी।

धर्मपरायणा उसकी माता ने मानव जीवन की उपयोगिता के विषय में उसे सभी-कुछ बतला दिया है—उसे सभी कुछ समझा दिया है—फिर, उससे यह आशा की है कि वह उसकी इच्छा को जरूर पूरी करेगी। अन्धकार के कूप में डूबे हुए नारी-समाज के लिये वह प्रकाश का स्तम्भ बन जायेगी। वह उनके सम्मुख ऐसा आदर्श उपस्थित करेगी—कि उनका कल्याण हो सकना सम्भव हो जाये। वह भव-बाधा से मुक्त हो जाये—तो अपने जीवन की वास्तविकता के दर्शन कर पा

सके। तो, वसुमति अपनी मा की इच्छा को जरूर पूरी करेगी। वह कल्याण के पथ पर निश्चय ही अग्रसर होगी।

और तभी मा के वे शब्द उसे याद हो आये—एक दिन धर्म-चर्चा करते हुए धारिणी ने वसुमति से कहा था—'पुत्री! कोई भी सच्चा धर्मानुरागी स्वार्थ अथवा मोह के वशीभूत होकर अपने किसी भी प्रिय से प्रिय व्यक्ति को धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ने से कभी नहीं रोकता—वह उसे उस सत्य-पथ पर जाने देता है। अपनी ओर से वह उसे सहर्ष विदा देता है—जिससे वह सब ओर से सन्तुष्ट होकर, पूर्ण मनोयोग के साथ, अपने मार्ग पर आगे बढता है—फिर, बढता ही चला जाता है—तो, अन्त में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर इस ससार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

और उसके पिता सच्चे धर्मानुरागी थे—तो, उसे विश्वास था—वह उसे नहीं रोकेंगे। वह उसे जाने देंगे।

और जब सच्ची अहिंसा कृपाकर उसके रोम-रोम मे समा गई है—तो, वह निश्चय ही कल्याण के उस पथ पर अग्रसर होगी॥

और अन्त में उसने निश्चय किया—अपने इस मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये वह अपना सब कुछ छोड़ देगी—अपना सब कुछ त्याग देगी। दृढ़ता के साथ वह उस मार्ग पर बढेगी—और अब ससार का कोई भी प्रलोभन उसे मार्ग-च्युत न कर सकेगा। उसे मार्ग मिल गया है—फिर, मार्ग पर आगे बढ़ चलने के लिये मूल-मन्त्र भी—तो, अब वह उस पथ पर आगे बढ़ेगी। और यह उसका निश्चय है।

और तभी उसके इस पवित्र निश्चय की एक रेखा उसके माथे पर उभर आई—जो, उसकी दृढ़ता की परिचायक थी।

और दूसरे दिन

जब वह नित्य की भाँति, धर्म-शिक्षा के निमित्त, माता के चरणों में वन्दना कर, उसके पास में आकर बैठी—तो, वह बहुत खुश थी। उस समय उसका मुख खिले हुए कमल के फूल के समान दीख पड़ रहा था। सात्विक हास्य की एक रेखा उसके ओठों पर खिंची थी। तो पुत्री के इस रूप को देखकर धारिणी को ऐसा भान पड़ा—जैसे उसके विश्वास का सत्य स्वरूप आज उसके सम्मुख प्रत्यक्ष हो गया है—और वह बहुत ही पवित्र है।

और यह देखकर धारिणी हर्षातिरेक में फूल-सी उठी।

तभी चन्दना ने आज्ञा प्राप्त कर उससे पूछा—'माता! आज मेरे मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो गई है—कि मैं जानूँ—सच्चे साधु के लक्षण क्या हैं?

और पुत्री का यह प्रश्न धारिणी को बहुत अच्छा लगा—फिर, एक क्षण सोचकर वह उसके इस प्रश्न के उत्तर में उससे कहने लगी—'पुत्री! तुम्हारे इस सामयिक और गूढ़ अर्थों वाले प्रश्न को सुनकर मैं बहुत अधिक प्रसन्न हुई हूँ। तुम्हारा यह प्रश्न धर्म को बढ़ाने वाला और मोक्ष का देने वाला है। तो सच्चे साधु के लक्षणों के विषय में जो मैं तुमसे कहती हूँ—पुत्री! उसे ध्यान-पूर्वक सुनो। मेरे इस कथन पर मनन

करो—और तब उसका जीवन मे समावेश कर परम् पद मोक्ष को प्राप्त करो—और ससार के बन्धनों से मुक्त हो जाओ।'

और माता के मुख से अपने प्रश्न की इस मीमांसा को सुन वसुमति पुलकित हो उठी। फिर, वह ध्यान-पूर्वक सुनने लगी—और धारिणी ने कहा—'साधु का अर्थ है—पुत्री! समभाव का साधक! जो सभी जीवों में आत्मा परमात्मा के पवित्र रूप का दर्शन करता हुआ अपनी साधना के फल-स्वरूप सिद्धत्व को प्राप्त करता है—और इस प्रकार मोक्ष को प्राप्त कर कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। और ऐसा ही वह आदर्श साधु है—पुत्री! ऐसा ही वह सच्चा साधु है।'

'और ऐसा वह सच्चा साधु संसार के सभी भोगों से उदासीन हुआ, आत्म-शान्ति और परलोक की सिद्धि को प्राप्त करने के हेतु, ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश में अपने मार्ग को खोजता, निरन्तर अपने पथ पर आगे बढ़ता रहता है। फिर, ससार का कोई भी बन्धन उसे स्वयँ मे बाँध नहीं पाता—उसे अपने मार्ग से हटा नहीं सकता—और वह अन्त मे आत्मा से परमात्मा बन जाता है। बार-बार जन्म ग्रहण करने के बन्धन से मुक्त हो जाता है—मोक्ष प्राप्त कर लेता है।'

'वह सच्चा साधु जब ससार के सभी सुखों को तृणवत् छोड़ देता है—और फिर, उनका मोह नहीं करता—तो, अपने ज्ञान और क्रिया की सहायता से, मोक्षरूपी परम् तत्त्व को प्राप्त कर लेने के लिये, साधना के बीच, उस ओर अबाध-गति से आगे बढ़ता है—तब, आत्म-दर्शन ही उसका ध्येय है, और

'अपने उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नामक रत्नत्रय ही उसका सच्चा साधन है। और वह सच्चा साधु फिर अपने सच्चे साधन रत्नत्रय की सहायता से आत्मा में लीन हुआ वेगवती धारा के समान प्रतिक्षण आगे और आगे ही बढ़ता हुआ बीच में कहीं भी न रुक कर, अपनी मुक्ति के मन्दिर में ही जाकर ठहरता है—और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।'

'तो देखा वह सच्चा साधु—पुत्री क्षमा का जीवित उदाहरण होता है। फिर, किसी भी जीव पर क्रोध करना वह जानता ही नहीं। शान्ति और सरलता के साथ वह अपने प्रत्येक कार्य को करता है—तो आत्म-क्षोभ को संसार से वह उखाड़ फैंकता है। क्षमा के मन्त्रों के द्वारा वह उसका दमन कर देता है। जीव-मात्र के प्रति वह दया का व्यवहार करता है। संसार में संस्कारी वातावरण को जगा देता है। उसका सत्संग करने से मनुष्य में आत्मा की खोज की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जीव-मात्र के प्रति दया की भावना जाग्रत होती है—और इस प्रकार वह संसार का कल्याण करता हुआ—अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।'

'तो ऐसा वह सच्चा साधु—पुत्री, सुन्दर हो या कुरूप—किसी भी स्त्री की ओर कभी आँख उठाकर भी नहीं देखता। आकर्षण की केन्द्र-स्थल भी हो वह कठपुतली के समान समझ उसकी ओर कभी भी आकर्षित नहीं होता—और वह उससे दूर रहता है। तो कनक और कामिनी का त्याग करके आत्मा

वह साधु लोभ और मोह मे कभी नहीं फॅसता। और इसलिये, उसकी आत्मा बरावर समृद्धि को प्राप्त होती रहती है—तो, उस अक्षय आत्म-समृद्धि के कोष का वह एकमात्र और स्वतन्त्र स्वामी है—फिर, वह ससार के किसी भी बडे से बडे सम्राट् से भी बडा सम्राट्—जो, अन्त मे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

'वह सच्चा साधु—पुत्रो, किये गये किसी पाप के फल से नहीं—वह तो पाप की वृत्ति से ही मुक्त होने की बात सोचता है। वह जानता है—जब पाप का वीज ही नष्ट हो जायेगा—तो, पाप-वृक्ष फिर उत्पन्न ही नहीं होगा—और फिर, पाप का फल तो लगेगा ही किस पर ! तो, वह पाप की वृत्ति से ही मुक्ति चाहता है। फिर, वह केवल अपनी आत्मा की आवाज़ को ही सुनता है—और उसी के अनुसार वह करता भी है—और वह इस दुरङ्गी दुनियाॅ के शब्द-जाल मे नहीं फॅसता। वह जानता है, दुनियाॅ तो केवल किसी की बुराई ही कर सकती है—किसी की भलाई नहीं—तो, वह उसकी आवाज़ से दूर रहता है—वह उस ओर ध्यान ही नहीं देता। तो, वह लोक के कल्याण के लिये फिर इस ससार मे अपने वहुजनहिताय और वहुजनसुखाय वाले सवल और स्वतन्त्र विचारों की सहायता से एक नये युग को जन्म देता है। वह इस दुनियाॅ में नये वातावरण को उत्पन्न कर देता है। उसका जीवन, सच्चा सरल और निष्पाप होता है—तो, मानव-समाज को वह इसी की शिक्षा देता है—और इस प्रकार इस ससार का कल्याण

करता हुआ—अन्त में वह मोक्ष को प्राप्त करता है। वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।'

'तो, ऐसा वह सच्चा साधु—पुत्री मार्ग में आ पड़ने वाली बाधाओं की लेश-मात्र भी चिन्ता नहीं करता। वह उनसे डर नहीं जाता। अपने मार्ग पर आगे बढ़ने से वह रुकता नहीं—इसके विपरीत अपनी आध्यात्मिक शक्ति की सहायता से अपने मार्ग की उन कठिनाइयों पर वह विजय प्राप्त करता है—और आगे बढ़ जाता है। जगत् के विष का वह शान्ति पूर्वक पान कर—संसार पर वह अमृत की वर्षा कर देता है—और इस प्रकार उसे जीवन-दान देता है। पुत्री! वह शत्रु के प्रति भी नम्रता और सज्जनता का व्यवहार करता है। उसके पत्थर मारने वाले भी बदले में उससे सुन्दर पुष्पों का ही उपहार पाते हैं। वह गाली देने वालों के ऊपर भी अपने आशीर्वाद की अविराम वर्षा-सी कर देता है। वह अपने प्रति किये गये किसी के अपकार का बदला उसे उपकार के रूप में ही देता है—और खुश होता है। और इस प्रकार अपनी साधु-वृत्ति से संसार की भलाई करता हुआ—अन्त में मोक्ष को प्राप्त करता है। वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।'

'तो पुत्री! ऐसे उस सच्चे साधु की दृष्टि में अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है—और हिंसा सबसे बड़ा पाप! तो अहिंसा का वह पुजारी—सच्चा भक्त—फिर विष को अमृत और शत्रु को मित्र बना देने का सफल प्रयत्न करता है—वह विष को अमृत और शत्रु को मित्र बना देता है। और पुत्री! वह पापी से नहीं वह पाप से दूर रहता है। अपने स्नेह की वर्षा

से वह पापी के मन को बदल देता है। उसके हृदय की कठोरता को कोमलता का रूप दे देता है। और ऐसा वह सच्चा अहिंसक—ऐसा वह सच्चा साधु संसार पर अमृत की वर्षा करता हुआ निरन्तर अपने मार्ग पर अबाध-गति से आगे बढता रहता है—और अन्त मे, अपने लक्ष्य को प्राप्त कर कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। वह परम्-आत्मा परमात्मा बन जाता है।'

और अन्त मे वह कहने लगी—'पुत्री वसुमति। मेरे इन शब्दों पर तुम मनन करो—और तब इनका जीवन में समावेश कर आत्मा से परमात्मा बन जाओ। आत्मा से परमात्मा।'

और अपने इस कथन को इस प्रकार समाप्त कर धारिणी चुप हो गई। वह अब अपनी आत्मा मे एक अलौकिक शान्ति का अनुभव कर रही थी। तो, वसुमति उठी—और आत्मा के सुख में लीन हुई माता के चरणों मे वन्दना कर ध्यान मे मग्न अपने कमरे की ओर चली।

अपने मन मे, अब वह अपनी मां के द्वारा कहे गये इन शब्दों को ही रह-रहकर दोहरा रही थी—'पुत्री वसुमति! मेरे इन शब्दों पर तुम मनन करो—और तब इनका जीवन मे समावेश कर आत्मा से परमात्मा बन जाओ। आत्मा से परमात्मा।' और उस समय उसे ऐसा जान पड़ रहा था—जैसे उसकी अच्छी मां ने आज उससे सब कुछ कह दिया है। परम् धार्मिक और शुद्ध विचारों वाली उसकी मां ने उससे कह दिया है—आत्मा अमर है, आत्मा अनन्त है, आत्मा ही परमात्मा बन जाता है, वसुमति। तो, तुम ससार के बन्धनों

में न फँसो—इनके ऊपर उठो। फिर अपने मन में समभाव को स्थिर कर सत्य-पथ पर आगे बढ़ो। मार्ग की कठिनाइयों पर अपनी अहिंसा-वृत्ति से विजय प्राप्त करो—और अपने ज्ञान की अखण्ड ज्योति के प्रकाश में मोक्ष के मार्ग पर अबाध-गति से निरन्तर आगे बढ़ो। संसार पर अमृत की वर्षा करती हुई—सबको सुख पहुँचाती हुई—गति-हीन हुए बिना सब कल्याण-कारी पथ पर, वेगवती धारा के समान आगे बढ़ो—और अन्त में मोक्ष के मन्दिर में जाकर ठहर जाओ। कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाओ और आत्मा से परमात्मा बन जाओ। आत्मा से परमात्मा—पुत्री!

फिर कुछ ही वर्षों के उपरान्त

अपने कमरे में बैठी हुई वसुमति सोच रही थी—राग और द्वेष पर विजय प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य नीचे गिरने से बच सकता है। राग से माया और लोभ का जन्म होता है और द्वेष के कारण क्रोध उत्पन्न होता है—इसलिये राग और द्वेष मनुष्य के शत्रु हैं—जो मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक बनते हैं और उसका नैतिक पतन कर उसे बहुत नीचे गिरा देते हैं। फिर मनुष्य वीतराग और अरिहन्त नहीं बन सकता—नहीं बन सकता—तो कर्मों के बन्धन से ही वह किस प्रकार मुक्त हो सकता है—और मोक्ष ही किस प्रकार प्राप्त कर सकता है—तो, आत्मा से परमात्मा ही किस प्रकार बन सकता है।

तो मनुष्य अपने जीवन की दुर्बलता के सूचक दोषों से दूर रहे—और वे दोष हैं—असत्य विश्वास अज्ञान, अन्ध मान

माया अथवा कपट, लोभ, रति अथवा सुन्दर वस्तु को देखकर हर्षित होना, अरति अथवा असुन्दर वस्तु के प्राप्त होने पर खेद प्रगट करना, निद्रा, शोक, अलीक अथवा झूठ, चौर्य अथवा चोरी, मत्सर अथवा डाह, भय, हिंसा, राग अथवा आसक्ति, क्रीडा, हास्य। और इन दोषों से दूर रहकर ही मनुष्य आत्म-शुद्धि की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच पाता है।

और इस प्रकार अपनी आत्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा को हस्तगत कर वह केवल ज्ञान को प्राप्त करता है—और कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

तो, इन दुर्बलताओं का त्याग ही मनुष्य की साधना है, जो उसके जीवन को उन्नतिशील और धर्ममय बना देती है। फिर, मनुष्य-योनि उसकी सार्थक हो जाती है। वह मानव-जीवन की वास्तविकता से परिचित हो जाता है—तो, उसको उपयोगी और सुन्दर बना डालता है। आत्म-कल्याण और जन-कल्याण की महती भावना से उसे ओत-प्रोत कर लेता है—तो, अपने शुद्ध आचरण के द्वारा मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होता है—और अपने ज्ञान की सहायता से उस उच्च आदर्श को प्राप्त कर लेता है। वह मोक्ष के मन्दिर में पहुँच कर ठहर जाता है—और आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

तो, मानसिक और शारीरिक भोग-विलासों से दूर रहकर आध्यात्मिक साधना की आराधना करना ही मानव-जीवन की श्रेष्ठता है—फिर, उसके जीवन का वास्तविक रूप भी यही—

क्योंकि इस प्रकार ही वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है। वह बार-बार जन्म ग्रहण करने की प्रवृत्ति से मुक्त हो जाता है।

इसलिये मनुष्य पहिले अपने इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है—और तब धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ चलता है। वह साधु बन जाता है—फिर, सच्चा साधु, और अन्त में परमात्मा!————

और वही सच सोचती-विचारती वसुमति—फिर, धर्म की साधना के अपने मार्ग पर और आगे बढ़ी—कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाने के लिये! आत्मा से परमात्मा बन जाने के लिये!

सखियों के बीच

१०

अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने का शुभ-संकल्प कर वसुमति बहुत प्रसन्न थी। आज उसे जीवन मे प्रथम वार ऐसी अनिवर्चनीय शान्ति का अनुभव हो रहा था—जो, पवित्र थी और आत्म-विभोर करने वाली भी! तो, स्वयं में ही लीन हुई वह सोच रही थी—जगत् अनादि है—और आत्मा अमर और अनन्त—फिर, परमात्मा भी! तो, मनुष्य अमर, अनन्त और परमात्मा आत्मा का हनन कर शरीर और इन्द्रियों के सुख में लीन रहता है, वह अज्ञान के अन्धकार मे भ्रमित हुआ निरन्तर क्षय को प्राप्त होता रहता है। और क्षय को प्राप्त होने का अर्थ है—कर्मों के वन्धन मे जकड़ते ही जाना—जकड़ते ही जाना—और कर्मों के अन्त—अथवा मोक्ष की ओर विल्कुल अग्रसर न होना—उस ओर वढना ही नहीं।

तो, ऐसा वह कर्मों के वन्धन मे बँधा हुआ मनुष्य अपवित्र विचारों को अपने हृदय मे वसाये सदा दूसरों और अपने लिये भार-स्वरूप ही वना रहता है। वह पाप-वोझ-भरी गठरी के समान, सदा अपने और दूसरों के लिये, ऐसा कठिन और कठोर

भार बन जाता है, जिस भार के नीचे दबी हुई उसकी आत्मा, उसकी ओर से अपना मुँह मोड़े रहती है। वह शरीर और इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होने वाले सुख को ही सुख समझता रहता है—और इस प्रकार वास्तविक सुख से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता।

और वह शुद्ध और अशुद्ध विचारों के बीच भेद कर सकने में भी असमर्थ रहता है। स्वर्ग नरक और मोक्ष के भेद को वह जानता ही नहीं। पुण्य और पाप की पहिचान उसे होती ही नहीं। शुद्ध आचरण की बात को वह सोचता भी नहीं। वह जानता ही नहीं—अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है।

और जब अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है—तो, हिंसा सबसे बड़ा पाप। फिर, बात-बात में हिंसा का सहारा लेने वाला मनुष्य शुद्ध-बुद्ध और धर्मात्मा कैसे और किस प्रकार बन सकता है। जीवन उसका सात्त्विक और पवित्र कैसे हो सकता है—तो उसके कर्मों का नाश हो सकना भी असम्भव है—और जब कर्मों का नाश ही नहीं हो सकता—तो, वह मोक्ष ही किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। जब कर्मों का नाश हो सकना असम्भव है—तो मोक्ष का प्राप्त हो सकना भी असम्भव। फिर, तो वह अशुद्ध और अपवित्र विचारों वाला मनुष्य कर्मों के बन्धन में बँधा हुआ बार-बार जन्म ग्रहण कर बराबर अपने पापों की वृद्धि ही करता रहेगा—और शुद्ध विचारों के अभाव के कारण कभी भी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता।

मगर मुझे जब यह कल्याणकारी और कर्मों के बन्धन से मुक्त कर देने वाला मार्ग मिल गया है—तो, मैं इस मार्ग पर निश्चय ही आगे बढ़ूँगी। अब ससार का कोई भी बन्धन-लोभ, मोह मुझे अपने इस निर्णय से विचलित नहीं कर सकता। अगर यह मार्ग कठिनाइयों से भरा हुआ है—तो, मोक्ष का देने वाला भी है—और मोक्ष के देने वाले इस कल्याणकारी मार्ग पर मैं आगे बढ़ूँगी।

और बसुमति उठकर खडी हो गई—फिर, वह कमरे से निकल वृक्ष-वाटिका की ओर चली। और वह सोच रही थी—आदर्श साधु के लक्षणों को जानकर तो मेरा मन आनन्द से भर उठा है। कितना पवित्र है—वह रूप! फिर हृदयग्राही और सुन्दर! काश, मैं उस रूप को धारण कर सकी—तो, मेरा यह मानव-जन्म सफल हो जायेगा। आवागमन से मैं मुक्त हो जाऊँगी—और सब-कुछ पा-लूँगी—तो, मा की इच्छा पूर्ण होगी।

और वृक्ष-वाटिका के एक कोने मे जाकर वह ठहर गई। फिर, अशोक वृक्ष के नीचे घास पर बैठकर वह सोचने लगी—सर्वाधिक सुन्दर तथा पवित्र उस रूप को प्राप्त करने के लिये मार्ग मुझे मिल गया है—और उस मार्ग पर बढ-चढ़ने के लिये मूल-मन्त्र भी—तो, अब तो मार्ग पर चल-पड़ना बाकी है—केवल! तो, उसने फुसफुसाकर स्वयं से कहा—मार्ग पर चल-पड़ना बाकी है, बसुमति!

तो उसका मन उससे कहने लगा—तो, क्या हुआ—बसुमति! जब अपनी अच्छी और परम पवित्र विचारों वाली

मां की सहायता से तुम यहाँ तक आ-पहुँची हो—कि धर्म के उस मार्ग से परिचित हो गई हो—फिर, साधन भी तुम्हें प्राप्त हो गया है—और पूर्णरूपेण अहिंसा जब तुम्हारे शरीर के अणु-अणु में समा गई है—तो, कल्याणकारी उस मार्ग पर तुम निश्चय ही बढ़ोगी। निश्चय ही बढ़ोगी—और मैं तुम्हारे साथ हूँ। तुम्हारे वश में हो गया हूँ।

और अपने मन की यह बात वसुमति को बहुत ही आनन्द-प्रद जान पड़ी। तो मन उसका खिलखिलाकर हँस पड़ा; मगर कुछ ही क्षणों के उपरान्त वह मौन हो गया—तो, वसुमति गहरे आत्म-चिन्तन के बीच खो-सी गई। वह कुछ सोच कर बाग को अपलक नेत्रों से देखती हुई गंभीर बन गई और आगे की बात निश्चय कर-लेने में तल्लीन होगई।

और तभी उसकी सखियों ने वहाँ पहुँचकर उसे चौंका दिया—और उनमें से एक सखी हँसी करती हुई उससे कहने लगी—'शायद भावी पति की चिन्ता में तल्लीन हो—बहिन!'

तो दूसरी बोली—'अभी तो—देखो न हमारी सखी ने पुष्प-वाटिका का एक नितान्त अकेला कोना अपने लिये पसन्द किया है—जहाँ बैठकर वह अपने भावी जीवन-संगी के मन पसन्द चित्र अंकित करे—और उस समय उसको यहाँ पर देखने वाला कोई न हो।'

और तीसरी सखी ने बात में बात जोड़ी—'जब यौवन उमगकर उभरता है—तो, मन का पपीहा पिऊ पिऊ की ध्वनि

से समूचे शरीर को गुंजा देता है—और तब शरीर का रोम-रोम सिहर उठता है—तो, ऐसी दशा में हमारी प्यारी सखी वसुमति इसके अतिरिक्त और करे भी तो क्या ?' और इतना कहकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी।

तो, चौथी सखी कहने लगी—'मगर इसलिये एकान्त में वैठकर चिन्ता करने से क्या लाभ ? मुझे तो विश्वास है—पिता महाराज दधिवाहन अपनी लाड़ली वसुमति के लिये उसके अनुरूप ही वर खोजेंगे। फिर, माता महारानी धारिणी ही इस बात को कब पसन्द करेंगी कि उनकी इकलौती सुकुमारी कन्या किसी बुड्ढे-ठेढे के साथ ब्याही जाये। तो, मेरी बात पर विश्वास करो—वसुमति, और चिन्ता को छोड़ो। उठो—आओ, कुछ देर हँसें और अपना मन बहलाएँ—बहिन !'

मगर पाँचवीं सखी बोली—मेरी बात भी तो सुनो—सखियो ! मैं सोचती हूँ, हमारी प्यारी सखी वसुमति जब अपने अनुरूप अपना पति प्राप्त कर उस किसी महाराज की महारानी बन जायेगी—तो, हमको तो बिल्कुल ही भूल जायेगी। फिर हम अपनी प्यारी सखी का मधुर गायन किस प्रकार सुन सकेंगी—तो, उसकी मीठी-मीठी बातें सुनने से भी वंचित हो जायेंगी। तो, यह सोचकर तो मुझे दुख होता है; मगर खुशी-खुशी मैं उस शुभ-दिन की प्रतीक्षा भी करती हूँ। सोचती हूँ, राजकुमारी के इस रूप और यौवन को किसी रखवाले की आवश्यकता है—तो, वह उन्हें मिलना ही चाहिये। लता वृक्ष के आलिंगन में आबद्ध होकर ही शोभा

पाती है। रात्रि दिन के साथ है, वह इसीलिये इतनी आनन्द-मय है। तो अहिम वसुमति की चिन्ता उचित ही है।'

और सखियों की इन बातों को सुनती हुई वसुमति सोच रही थी—क्या नारी इतनी अधिक सीमित हो गई है कि वह प्रतिपल केवल पुरुषों के चिन्तन में ही मग्न रहे—तो नारी का यह रूप तो उसकी अधोगति का सूचक है। जान पड़ता है—वह अंधकार के गहरे गर्त में गिर गई है—और उसने अपना वास्तविक रूप ही भुला दिया है। विषय-भोग की बातों के अतिरिक्त जैसे उसके पास अब और कुछ है ही नहीं। अगर कोई चिन्तन में निमग्न बैठी है—तो नारी सोचती है—लता को वृक्ष की आवश्यकता है—और वह वृक्ष उसे मिलना ही चाहिये—क्योंकि वह उसका रक्षक है। तो, नारी का स्वाभिमान क्या बिल्कुल ही नष्ट हो गया है। क्या वह अपनी शक्ति को बिल्कुल ही गँवा बैठी है—जो अपनी रक्षा भी अपने आप नहीं कर सकती।

तो उस दिन मां ने ठीक ही कहा था—अपनी शक्ल-सूरत और मनुष्य के घर में जन्म लेने के कारण नारी मानवी तो है, मगर उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। उसके ज्ञान का लोप हो गया है। विद्या का प्रकाश अब उसे नहीं मिल पाता। तो, वह अपनी शक्ति को गँवा बैठी है। अब तो वह अपनी रक्षा कर-सकने में भी असमर्थ है—तो उसका जीवन अब दूसरों की कृपा पर आधारित है। इसीलिये अब वह विषय-भोग की बातों के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं पाती—क्योंकि वह अविद्या के अंधकार में सम्पूर्ण रूप से डूब गई है। तो,

अब आकर तो उसका जीवन पशुओं के जैसा भी नहीं रह गया है। उसे अपनी सत्ता मे भी अविश्वास उत्पन्न हो गया है—और इस प्रकार वह अपना सर्वस्व खो-चुकी है। तो, वसुमति! तुम उसकी मार्ग-दर्शिका बनो। अखड ब्रह्मचर्य का पालन करो—और नारी के कल्याण के लिये उसे अपना सब-कुछ अर्पित करदो।

और तब वह अपनी सखियों से कहने लगी—'बहिनो!' मेरे प्रेम के विस्तृत रूप को तुम इतना सकुचित बना देने की बात क्यों सोचती हो। जब वह समूचे विश्व मे व्याप्त हो जाने के लिये लालायित है—तो, वह एक के प्रति सिमट कर रह जाये - ऐसा कैसे हो सकता है। मैं तो सकल विश्व के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहती हूँ—तो, एक की—केवल एक की बनकर किस प्रकार रह सकती हूँ। सबको भूलकर केवल एक को ही अपना मानने लगूँ—ऐसा मुझसे तो न हो सकेगा। मैं ऐसा नहीं कर सकूँगी।'

एक क्षण रुककर वह फिर कहने लगी—'तुम सबके साथ मेरा जो प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो गया है—वह जीवन पर्यन्त अक्षुण बना रहे। वह घटने के स्थान पर दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाये—मेरा मन तो यही चाहता है। अब मैं तुम सबको नहीं भूलना चाहती—नहीं भूल सकती—इसीलिये, बहिनो! मेरी ओर से ऐसी शका करना व्यर्थ है। तुम सबका ऐसा सोचना निरर्थक है। तो, अपनी ओर से मैं तुम सबको विश्वास दिलाती हूँ—ऐसा मुझसे न हो सकेगा। तुम्हारे प्रति

मेरा प्रेम प्रतिदिन उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होगा। वह घटेगा नहीं—वह बढ़ता ही जायेगा।'

और इतना कहकर वसुमति चुप हो गई—और उसके इन विचारों को सुनकर सखियाँ अवाक् रह गई।

वे सोच रही थीं—हमारी इस सखी का स्वभाव तो ऐसा ही है—फिर वह धारिणी जैसी धर्मशीला नारी के पेट से उत्पन्न हुई है—तो इस व्रत का पालन कर लेना उसके लिये असम्भव बात नहीं है। वह तो हम रोज ही देखती हैं कि वह राजकुमारी होते हुये भी कितनी सरलता के साथ अपना जीवन व्यतीत करती है। वह सर्वगुण-सम्पन्ना है; मगर कितनी नम्र और कितनी विनीत। उसमें अहम् का लेश भी नहीं है। उसका जीवन नियम-बद्ध है—और वह अपना प्रत्येक कार्य अपने हाथों से करना पसन्द करती है। उसकी आत्मा पवित्र उसका मन शुद्ध और उसके विचार सात्विक हैं। तो उसके लिये इस व्रत का पालन कर लेना कुछ कठिन नहीं है। वास्तव में वह आदर्श माता की आदर्श कन्या है—तो——।

मगर तभी उनका मन शंका कर उनसे कहने लगा—जो कुछ तुमने वसुमति के विषय में सोचा—मैं मानता हूँ, वह अक्षरश: ठीक है, परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन कर-लेना भी कोई हँसी-खेल नहीं है। उभरते हुए यौवन को जब काम के बाण बींधने लगते हैं—तो आदर्श सहज ही में काफूर हो जाता है। यह तो वसुमति है—उस पथ के पथिक के सम्मुख गिरी

अबोध बालिका—जब अच्छे-अच्छे तपस्वी तक कामदेव का प्रहार होने पर अपनी हजारों वर्षों की तपस्या मे आग लगा लेते हैं—तो, उस कठिन व्रत का वसुमति पालन कर सके—इसकी क्या बिसात है। मुझे तो विश्वास नहीं होता।

और अपने मन की इस बात को सुनकर उनमे से एक सखी वसुमति से बोली—'बहिन! क्षमा करना। मुझे तो तुम्हारे इस कथन पर विश्वास नहीं होता—तो, यह तो समय ही बतलायेगा कि तुम अपने कार्य मे सफल होगी।'

तो, दूसरी कहने लगी—'बहिन! विचार तो तुम्हारा उत्तम है, मगर यह संसार है। यहाँ पर प्रत्येक कन्या को ऐसा करना ही पड़ता है—कि वह सबके साथ अपने स्नेह-बन्धन को त्याग कर किसी एक के साथ ही अपना प्रेम-सम्बन्ध जोड़ती है। कन्या का जन्म ही इस ससार मे इसलिये होता है कि वह किसी एक के चरणों की दासी बन जाये—और उसीमे गौरव का अनुभव करे।'

और दूसरी सखी की इस बात को सुनकर फिर सभी सखियाँ कहने लगीं—'हमेशा से जब यही होता चला आ-रहा है—तो, हम तो यही समझती हैं कि नारी का जीवन पुरुष के साथ बँधा है—और नारी का गौरव इसीमें है कि वह पुरुष की दासी बनकर रहे। फिर, उसीको अपना सब-कुछ समझे—अन्यथा, इसके विपरीत जाने पर नारी के माथे पर कलक का टीका लग जाता है। ससार उस पर घृणा से थूकने लगता है। फिर, चाहे वह कितनी ही पवित्र रहे, मगर

दुनियाँ उसकी पवित्रता पर विश्वास नहीं करती—इसीलिये कहा जाता है—कि पुरुष ही नारी की परम्-गति है।'

तो धर्मियों के इस कथन के उत्तर में वसुमति कहने लगी—'बहिनो! जो-कुछ भी आप सबने कहा—वह केवल इतना है—जिसे आप अब तक देखती-सुनती चली आई हैं; मगर यह नारी के एक ही रूप का वर्णन है—जो, पूर्ण नहीं—बहिनो अपूर्ण है। तो, नारी के विषय में इतना ही कुछ मान लेना पर्याप्त नहीं कहा जा-सकता। तो, मेरा विश्वास है, जिस प्रकार पुरुष के जीवन के नाना रूप हैं, उसी प्रकार नारी के भी अनेक रूप हैं। अगर पुरुष ब्रह्मचर्य को धारण कर मोक्ष के मार्ग का पथिक बन सकता है—तो, नारी भी ऐसा कर सकती है। मेरे विचार से धर्म के पथ पर अग्रसर होने के लिये नारी भी पुरुष के समान ही स्वतन्त्र है। आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव ने इसीलिये साधु के साथ साध्वी को भी मान्यता प्रदान की है। वास्तव में, भगवान् ने पुरुष और स्त्री में इस तरह का कोई भी भेद स्वीकार नहीं किया है—इसीलिये भगवान् ने अपनी दोनों पुत्रियों—ब्राह्मी और सुन्दरी को अलौकिक ज्ञान से विभूषित किया था।'

'तो पुरुष और स्त्री में किसी प्रकार का भेद-भाव स्थिर कर स्त्री को धर्म-पथ पर आगे बढ़ने से रोकना न्याय-संगत किसी भी प्रकार से नहीं कहा जा सकता। और जब स्त्री भी पुरुष के समान ही एक बुद्धिजीवी आत्मा है—अपनी भलाई और बुराई की बात का सोच लेने में जब वह स्वयं समर्थ है—जब वह अपने जीवन का मार्ग खुद ही तय कर सकती

है—तो, उसे पशुओं के समान किसी छोटे-से दायरे मे क़ैद कर देना उचित किस प्रकार माना जा सकता है। नहीं माना जा-सकता—तो, आज की नारी को अपनी मुक्ति की वात सोचनी ही पडेगी। उसे सन्मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये अपनी आज की दशा से ऊपर उठना होगा—अपने आज के दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्त्तन करना होगा तो, उसके विचारों के साथ-साथ उसका जीवन ही वदल जायेगा।'

'और फिर,

उसके रूप मे ऐसा शुभ और क्रान्तिकारी परिवर्त्तन होगा—कि वह ।अपनी सत्ता के दर्शन कर अपने इस जन्म को सार्थक कर लेगी। उसके जीवन का क्रम ही वदल जायेगा—तो, वह मोक्ष के मार्ग पर आगे वढ़ चलेगी—और कर्मों के वन्धन से मुक्त हो जायेगी। आत्म-विश्वास जव उसमे उत्पन्न हो जायेगा—तो, अपने विपय मे ऐसी तुच्छ और विना अर्थ की वातें सोचना उसे निरर्थक जान पड़ेगा। तव, मन उसका पवित्र, शरीर उसका शुद्ध और आत्मा उसकी निर्मल होगी—और वह विषय-भोग अथवा सांसारिक सुख, जो, वास्तव में सुख नहीं—दुख है—वहिनो, के सम्वन्ध में सोचना अथवा उसकी चिन्ता करने में अपना समय—अपना जीवन नष्ट नही करेगी।'

'वह तो फिर मोक्ष के मन्दिर की ओर अग्रसर होगी—और कर्मों के वन्धन से मुक्त हो जायेगी।'

और एक क्षण के मौन के पश्चात् वह फिर कहने लगी—'मगर मैं अपने विषय में अभी कुछ भी नहीं कह सकती। आप सबने यह तो ठीक ही कहा कि मेरे बारे में तो सब-कुछ समय ही बतलायगा। मगर मैं विश्वास अपने इसी विचार में करती हूँ कि मेरा प्रेम सम्पूर्ण संसार के लिए हो—वह किसी एक ही के साथ बँधकर न रह जावे।'

और इतना कहकर वसुमति चुप हो गई।

अब सभी सखियाँ आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्न-मुद्रा से उसे एकटक देख रही थीं—और अपने मुख पर समभाव को स्थिर कर वसुमति मौन थी।

धारिणी का सुख-स्वप्न

और एक क्षण क म
'मगर मैं अपने विषय
आप अपने यह तो ठी
समय ही बतलायेगा
मैं करती हूँ कि मेर
किसी एक ही के म
और इतना क

तब सभी
एकटक देख रही
कर अनुमति ली

११

और, जब

पुत्री वसुमति के इन विचारों को प्रसगवंश उसकी सखियों के मुख से धारिणी ने सुना—तो, उसके समूचे शरीर में आनन्द की एक लहर-सी दौड़ गई। अनुकूल वायु का स्पर्श कर उसके मन का कमल खिल उठा। तभी, उसका विश्वास सत्य का रूप धारण कर उससे कहने लगा—मैंने तुमसे कहा था न धारिणी! पुत्री वसुमति एक आदर्श मानवी, एक आदर्श साध्वी जरूर बनेगी। वह लोक के कल्याण के लिये निश्चय ही उस मार्ग पर आगे बढेगी—और अन्त में संसार में एक आदर्श स्थापित कर वह मोक्ष को प्राप्त कर लेगी। वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जायेगी। तो, सुनो—यह तुम्हारी आशा का प्रारम्भ है, धारिणी!

और अपने विश्वास का यह सत्य-स्वरूप धारिणी को बहुत ही सुखकर जान पड़ा—तो, आत्मा के आनन्द में लीन होकर वह सोचने लगी—मेरा गृहस्थ-जीवन सार्थक है—

इसलिये, क्योंकि—मैं एक आदर्श पति की पत्नी हूँ। महाराज दधिवाहन धर्म-तत्त्व-मर्मज्ञ, सुन्दर विचारों वाले और परिग्रह की भावना से दूर रहने वाले एक आदर्श पुरुष हैं—तो, ऐसे पुरुष की पत्नि बन जाने पर मैं गौरव का अनुभव करती हूँ। मैं स्वयं को बड़े भाग्यों वाली समझती हूँ।

और पुत्री वसुमति से जैसी अपेक्षा की थी—कि वह धर्म-परायणा बने सती-साध्वी हो शुद्ध और पवित्र विचारों को अपने हृदय में बसाये, सत्य अपने धर्म के लिये मर-मिटे, अहिंसा के लिये जीवित रहे—और लगन और लगन के साथ धर्म के मार्ग में आगे बढ़े—तो, अपनी इस आशा के इस मधुर-रूप के दर्शन कर आज मुझे अपार आनन्द का अनुभव हो रहा है—और मैं सोचती हूँ, मेरा गृहस्थ-जीवन सार्थक है। वह सफल है।

क्योंकि,

पुत्री वसुमति मेरे विचारों के अनुरूप है। अपनी इतनी अल्प-अवस्था में ही वह सती-धर्म के मर्म को भली-भाँति समझने लगी है, अभी से ही वह शुद्ध भावनाओं के वशीभूत हुई अपने प्रत्येक कार्य को करने का सफल प्रयत्न करती है, दया को उसने अपने हृदय में बसा लिया है—तो विश्वास होता है, उसका भविष्य उज्ज्वल है, पवित्र है। वह निश्चय ही मन वचन और शरीर से परम् पवित्र रहकर अपने धर्म का नियम-पूर्वक पालन करेगी—और सती-साध्वियों के बीच अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेगी।

-तो और अधिक यहाँ पर आपका ठहरना ठीक नहीं है। धर्म की मर्यादा का विचार कर आपको इसी क्षण यहाँ से चले जाना उचित है। हे भ्राता! अब आप यहाँ से जाइये।' और इतना कहकर वसुमति मौन हो जाती है।

मगर वह राजकुमार ओछी सी हँसी हँस कहने लगता है—'वसुमति तुम मूर्ख हो। तुम्हारा यह कमनीय रूप धर्म की ज्वाला में भस्म हो जाने के लिये नहीं है। तुम पागल मत बनो, वसुमति! इस संसार में उत्पन्न हुई हो—तो, भोग भोगो। तुम जैसी रूपवती बाला को ऐसी कठिन तपस्या से दूर रहना ही उचित है। तुम नादान मत बनो वसुमति!'

और एक क्षण रुककर वह फिर कहने लगा—'तुम्हें अपनी बना लेने के लिये मैं इतनी दूर तुम्हारे पास स्वयं ही आ पहुँचा हूँ। मैं तुम्हारे रूप का पुजारी हूँ, वसुमति! तुम मुझे स्वीकार करो।

मगर वसुमति उस ओर से अपना मुँह फेर लेती है। वह नहीं चाहती कि वह उसकी बातों का उत्तर दे।

और राजकुमार दो कदम आगे बढ़ उससे कहने लगता है—'तुम्हारी उपेक्षा मुझसे सहन न हो सकेगी वसुमति! तुम्हारी इच्छा से नहीं तो अनिच्छा से मैं तुम्हें अपनी बनाऊँगा। तुम्हें मेरी बनना ही होगा।'

और राजकुमार के ऐसे अपवित्र और अधार्मिक बोल सुनकर वसुमति का नारीत्व जाग उठता है। फिर, वह कहने

लगती है—'सती साध्वी को अपने प्राणों का मोह नहीं सताता, राजकुमार! अगर तुम ऐसा समझते हो-तो, यह तुम्हारी भूल है। एक पतिव्रता स्त्री अपने पतिव्रत-धर्म को भली प्रकार से निभाना जानती है—और एक साध्वी अपने ब्रह्मचर्य, अपने सत्य और अपने धर्म को! तुम विश्वास करो, राजकुमार! ऐसी वह कोई भी नारी अपने प्राणों का त्याग, आवश्यकता आ-पड़ने पर पलक-मारते कर सकती है, मगर अपने शील-धर्म, अपनी साधुता और अपनी पवित्रता पर वह लेश-मात्र भी आँच न आने देगी। ससार का कोई भी बडे-से-बडा प्रलोभन उसे अपने मार्ग से नहीं हटा सकता। कोई भी और किसी भी प्रकार का जोर-जुल्म उसे मार्ग-च्युत नहीं कर सकता। तो, मैं कहती हूँ—इसके विपरीत कुछ भी सोचना, वह तुम्हारी भूल है, राजकुमार!'

'काम के वशीभूत होने के कारण ही तुम्हारे मन और मस्तिष्क पर ये अधार्मिक विचार अपना अधिकार जमा बैठे हैं—तभी, तुम इस प्रकार की अनर्गल बातें इस समय मेरे साथ कर रहे हो—अन्यथा, मैं जानती हूँ, तुम मानव हो—बुद्धि और विद्या के अधिनायक—फिर राजकुमार होने के नाते अपने और सभी के धर्म के रक्षक—तो, राजकुमार—स्वयं को पहिचानो—और इसी क्षण यहाँ से अपने स्थान को चले जाओ।'

'मैं ब्रह्मचारिणी हूँ—और इस समय यहाँ अकेली हूँ—तो, उचित तो यही था, कि तुम मेरे पास आते ही नहीं, मगर मैं मानती हूँ, मनुष्य भूल भी जाता है, वह भटक भी सकता है।

कभी-कभी उससे बहुत भयंकर भूलें भी हो जाती हैं; मगर मैं यह भी जानती हूँ—कि मनुष्य अपनी उन भूलों को सुधार भी लेता है—वह फिर अपने सत्य-मार्ग पर लौट आता है—तो, भाई ! अब तुम यहाँ से जाओ—और अपनी बहिन को आत्म-चिन्तन में लीन होने दो।'

और अपने इस कथन को समाप्त कर वसुमति चुप हो जाती है।

मगर तभी धारिणी देखती है—अपवित्र और अधार्मिक विचारों वाला वह राजकुमार वसुमति के पवित्र और परम् धार्मिक विचारों की अवहेलना और उपेक्षा कर, उसे पकड़ लेने के लिये उसकी ओर बढ़ता है—और वसुमति उससे अपने बचाव का और कोई उपाय न देखकर, पहाड़ की चोटी पर से कूद पड़ती है।

और यह देखकर धारिणी फूली नहीं समाती है। वह सोचती है—उसका श्रम आज सफल हुआ। उसकी पुत्री वसुमति ने अपने प्राणों का मोह न किया; मगर अपने धर्म की रक्षा के निमित्त उसने प्रसन्नता-पूर्वक उन्हें त्याग दिया। उसे वसुमति पर पूर्ण विश्वास था—और उसका वह विश्वास आज फलीभूत हुआ।

फिर, वह देखती है—पहाड़ की चोटी में आये हुये देवताओं के विमान पर वसुमति बैठी है—एक स्वर्गीय आभा से उसका मुख दमक रहा है। वह देवी-स्वरूपा वसुमति आज बहुत खुश है। वहाँ पर इकट्ठे हुये देवता उसकी जय-जय-

कार कर रहे हैं। फूलों की अविराम वर्षा से वसुमति का समूचा शरीर ढँक गया है।

और कुछ ही क्षणों के उपरान्त—फिर उसने देखा—महासती वसुमति को सम्मान-पूर्वक वह विमान स्वर्ग को ले जा रहा है—और समूचा आकाश 'महासती वसुमति' की जय की ध्वनि से गूँज उठा है।

और धारिणी खुश है—बहुत खुश।

तो, पवित्र और अपरिमित आनन्द का अनुभव कर उसका मन उससे कहने लगता है—पुत्री वसुमति ने मेरी इच्छा को पूर्ण किया है—धारिणी। तो, आज मैं फूला नहीं समा रहा हूँ। फिर, इस शुभ अवसर पर मैं तुम्हारी प्रशंसा किये बिना भी नहीं रह सकता। तुमने सतत् प्रयत्न कर पुत्री वसुमति को जो इस योग्य बनाया था—कि वह आज इस गौरवशाली पद को प्राप्त कर ससार मे अमर हो गई है—उज्ज्वल और शाश्वत् तारिका बन वह ससाराकाश में चम-चमकर चमकने लगी है—फिर, ससार के सम्मुख अपना स्वयं का उदाहरण उपस्थित कर वह अन्यों के लिये मार्ग-दर्शिका बन गई है—देवताओं ने जिसकी प्रशसा के गीत गाये हैं और सम्मान के साथ उसे मोक्ष के मन्दिर मे ले गये हैं—तो, इस सबका श्रेय तुमको है, धारिणी। केवल तुमको।

और इतना कहकर उसका मन चुप हो जाता है—तो, धारिणी देखती है—आनन्द के हिंडोले में झूलता हुआ वह बहुत खुश है। बहुत खुश।

और तभी वह सुनती है—उसका विश्वास उससे कहने लगता है—पुत्री वसुमति के सर्वोदय को देखकर तुम्हारा मन अगाध आनन्द का अनुभव कर सुख हो रहा है धारिणी—तो मैं सोचता हूँ—आज मैं सफल हुआ। आज मैं अपनी सफलता तुम पर प्रगट कर सका—तो मैंने आज सब कुछ प्राप्त कर लिया। और मैं सुख हूँ—बहुत सुख!

तो अपने मन और अपने विश्वास की बातों को सुनकर धारिणी को ऐसा जान पड़ता है—जैसे वह अपूर्णता से पूर्ण बन गई है। एक सती साध्वी की वह माता बन सकी है—तो पत्नि बनना उसका सार्थक हो गया है।

पत्नि बनना उसका सार्थक हो गया है—तो, वह स्वयं को धन्य-भाग मानती है।

और वह सुख है—बहुत सुख!

भविष्य के सम्बन्ध में

१२

तो, उस दिन वाली उस रात को—

अपने शयनागार में बैठी हुई धारिणी सोच रही थी—जब मेरे मन की यह इच्छा पवित्र है—और धर्म को बढ़ाने वाली भी—तो, आज प्रात काल देखा हुआ मेरा वह सपना भी निश्चय ही पूरा होगा। तो, मैं विश्वास करती हूँ, वह सपना—सपना नहीं है, वह सत्य है, जो आज अचानक मेरे सम्मुख इस रूप में प्रगट हो गया है। पुत्री वसुमति के उज्ज्वल भविष्य के विषय में मुझसे सब-कुछ कह गया है। वह मुझसे कह गया है—अपनी पुत्री के भविष्य के विषय मे जो विश्वास तुम्हारे मन में स्थिर हो गया है—धारिणी, वह शीघ्र ही सत्य बन जायेगा। तुम्हारी आदर्श पुत्री वसुमति उसे सत्य बना देगी—वह उसे उसी रूप में पूरा कर देगी। वसुमति पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर तुम्हारे विश्वास के अनुसार एक आदर्श साध्वी—और इस प्रकार ससार के लिये मार्ग-दर्शिका जरूर बनेगी। जरूर बनेगी—धारिणी! जरूर बनेगी।

और यह सोचकर धारिणी आत्मानन्द में लीन हुई स्वयं में ही खो-सी गई।

फिर, कुछ ही क्षणों के उपरान्त, वह सोचने लगी—हां, आज इस विषय में वह महाराज से बातें करेगी। वह आज उनसे पूछेगी—पुत्री वसुमति के विषय में उनके क्या विचार हैं? सांसारिक रीति-नीति के अनुसार क्या वह उसका विवाह करना पसन्द करते हैं—अथवा इस बात का निर्णय वह वसुमति की इच्छा पर छोड़ते हैं? क्या वह इस सत्य में विश्वास करते हैं कि वसुमति की भी अपनी एक पृथक सत्ता है—तो अपने भविष्य के विषय में निर्णय करने का उसे पूर्ण अधिकार है। वह विवाह करना चाहे—तो विवाह कर गृहस्थी बन जाये—और अगर ब्रह्मचर्य का पालन कर साध्वी बनना चाहे—तो साध्वी बने।———

और तभी दासी ने वहाँ पहुँचकर उसे महाराज के आगमन की सूचना दी—तो वह अपने ध्यान से उठकर, महाराज के स्वागत् के निमित्त, शयनागार के द्वार पर आकर खड़ी होगई।

तभी शयनागार के द्वार पर टँगे हुये तोते ने पुकारा—महाराज की जय हो! और समीप में आ-पहुँचे महाराज से धारिणी ने कहा—'महाराज का स्वागत् है! पधारें देव!'

और महाराज मुस्कराते हुये कमरे के द्वार में घुसे—और धारिणी उनके पीछे-पीछे चली। फिर, शय्या पर बैठकर महाराज धारिणी से कहने लगे—'जीवन का सुख इसी में है-

धारिणी, कि वह निरन्तर समृद्धि को प्राप्त हो। सांसारिक अथवा अस्थायी सुखों मे वह उलझकर न रह जाये। आत्मा के सुख के लिये वह उस ओर प्रयत्नशील रहे—और सबका कल्याण करता हुआ वह मोक्ष के मार्ग मे आगे बढ़े।'

'फिर, चाहे वह गृहस्थी हो या सन्यासी। अहिंसा से ओत-प्रोत सत्य आचरण सभी के लिये आवश्यक है। चौर्य और परिग्रह की भावना से सभी को दूर रहना चाहिये। तो, आज तुमसे यह कहते हुये मुझे हार्दिक सुख होता है – कि मेरे जीवन मे तुमने धर्म को सदा सजग रखा है और तुम्हारे सहयोग ने मुझे सदा बल प्रदान किया है, जिसके सहारे मैं बराबर उन्नति की ओर अग्रसर हुआ हूँ—तो, कल्याणी धारिणी! तुम महान् हो।'

और महाराज चुप हो गये—अब वह धारिणी को अपलक नेत्रों से देख रहे थे।

और धर्म-शीला धारिणी ने अपना शीश महाराज के चरणों मे रख दिया।

फिर, महाराज के समीप बैठकर वह उनसे कहने लगी—'पुत्री वसुमति अब सयानी हुई, स्वामी! तो, मुझे विश्वास तो है कि देव इस ओर भी निश्चय ही प्रयत्नशील होंगे। स्वामी को इस बात का ध्यान जरूर होगा। मगर मा होने के नाते यह मेरा कर्त्तव्य है कि महाराज को यह बात समय-समय पर मैं याद दिलाती रहूँ। महाराज को इस सत्य से अवगत् रक्खूँ।'

और कर्तव्य-परायणा धारिणी की यह बात महाराज को समयानुकूल जान पड़ी—तो, वह बोले—मैं जानता हूँ, प्रिये ! प्रिय पुत्री वसुमति अब विवाह के योग्य हो गई है—और मैं उसके लिये उपयुक्त वर की खोज में हूँ—मगर धारिणी ! तुमने मेरे इस कार्य को बहुत ही कठिन बना दिया है। तुमने पुत्री में इतने अपूर्व गुणों का विकास किया है—कि उसके अनुरूप उसका वर खोज लेने में मुझे कठिनाई का अनुभव हो रहा है। तो, मैं प्रसन्न भी हूँ और चिन्तित भी ! सच धारिणी ! तुम कितनी अच्छी मां बन सकी हो—कि इस सम्बन्ध में सोचता हूँ—तो सोचता ही रह जाता हूँ। और तब अपार आनन्द का अनुभव करता हुआ मैं मन ही मन तुम्हारी प्रशंसा कर अघाता नहीं हूँ। तो प्रिये ! इस समय मैं सोचा करता हूँ—मैं बहुत ही भाग्यशाली हूँ—कि तुम जैसी गुणवती और धर्मशीला नारी मुझे पत्नि-रूप में मिली। धारिणी ! तुम मेरे घर की लक्ष्मी बनीं—तो, मेरे घर को अपार आनन्द से भर दिया। अपने सहयोग से मुझे एक आदर्श पति बना दिया।'

और अपने इस कथन का इस प्रकार समापन कर महाराज आनन्द में मग्न हो प्रियदर्शिनी धारिणी की ओर देखते ही रह गये मगर धारिणी महाराज के मुख से अपनी प्रशंसा के इन शब्दों को सुन लाजों में ही सिमट-सी गई। फिर, मन ही मन फूली न समाती हुई वह महाराज से कहने लगी—'क्षमा करें, महाराज ! मैं इस प्रशंसा के योग्य नहीं हूँ। मुझे विदित है, मेरे ऊपर महाराज की सदा कृपा रही है। मैं

जानती हूं, महाराज ने सर्वदा ही मेरे ऊपर दया-दृष्टि रक्खी है—अन्यथा, एक बहुत ही साधारण स्त्री होने के नाते मैं तो अपने कर्त्तव्य को भी पहचान-सकने मे असमर्थ रहती—फिर, उसे निभा सकना तो मेरे लिये बहुत दूर की बात थी। तो, पुत्री वसुमति में जो गुण भी विकसित हुये हैं—वे सब मुझे महाराज से ही मिले हैं—तो, इसमे मेरी कौन बड़ाई है। इसका श्रेय तो महाराज को ही मिलना चाहिये। मैं तो अपना यह बहुत बड़ा सौभाग्य समझती हूँ—कि महाराज के श्री चरणों मे बैठने का मुझे अधिकार प्राप्त है—अन्यथा मैं इस योग्य कहाँ हूँ। वास्तव मे, मैं तो क्षुद्र बुद्धि वाली एकसामान्य-सी स्त्री हूँ, जिससे महाराज की कृपा के बिना कोई भी बड़ाई का कार्य हो सकना बहुत ही कठिन है। बहुत ही मुश्किल है।'

और एक क्षण के मौन के पश्चात् वह फिर कहने लगी—'मगर वसुमति की मा होने के नाते इस बात को अब मैं प्रतिपल सोचती रहती हूँ कि अपनी सर्वगुण-सम्पन्ना पुत्री को सुखी किस प्रकार बनाया जाये। यह तो मैं भली भांति जानती हूँ कि पिता होने के नाते महाराज को भी यह चिन्ता हर समय घेरे रहती होगी—तो, इस सम्बन्ध मे आज मैं महाराज से कुछ निवेदन करने की इच्छा रखती हूँ—अगर महाराज आज्ञा दें—तो, स्वामी के सम्मुख अपनी बात कहने की धृष्टता करूँ।' और धारिणी ने पलकें ऊपर उठा कर महाराज के मुख की ओर देखा।

महाराज खिलखिला कर हँस पड़े—फिर, गम्भीर होकर वह बोले—'ज़रूर कहो, धारिणी! ज़रूर कहो। प्रिय पुत्री

वसुमति जिस बात से सुखी हो सके—वह बात मुझ से जरूर कहो। अपनी गुणवती पुत्री को सर्वदा सुखी बनाये रखने के लिये मैं तुम्हारी वह इच्छा निश्चय ही पूरी करूँगा।'

और धारिणी कहने लगी—'स्वामी! हमारी पुत्री वसुमति नारी के सभी गुणों से विभूषित एक आदर्श कन्या है—तो सोचती हूँ, आप के दृष्टिकोण के अनुसार किसी उपयुक्त पुरुष के साथ उसका विवाह कर उसे सुखी बना दूँ—और मुझे विश्वास है, इस विषय में आप भी ऐसा ही सोचते होंगे परन्तु स्त्रियों के विषय में जब मैं पुरुषों के आज के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में विचारती हूँ—तो, उसके विवाह की बात को ध्यान में लाते हुये मुझे डर लगता है। जब आज के पुरुष की दृष्टि में स्त्रियाँ उसकी तुच्छ-सी दासियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं तो मैं नहीं समझ पाती—फिर, विवाह कर देने के उपरान्त वसुमति किस प्रकार सुखी रह सकती है। जब उसके पति के द्वारा उसके साथ भी वैसा ही घृणा-पूर्ण व्यवहार किया जायेगा—जैसा कि आज का पुरुष सभी स्त्रियों के साथ सामान्यत: करता है—तो विवाह के द्वारा हमारी पुत्री किस प्रकार सुखी बनाई जा सकती है।

'और जब विवाह कर देने के उपरान्त वसुमति को केवल दुःख ही मिला—तो अपनी गुणशीला पुत्री को दुःखी देख कर हम ही किस प्रकार सुखी रह सकते हैं। फिर तो स्वामी, हमें अपना जीवन भी बहुत ही दूभर जान पड़ने लगेगा। और तब हमारी प्यारी पुत्री की भी कितनी बुरी दशा होगी—कि उस दशा की कल्पना-मात्र से ही रोमांच हो आता है।

पुत्री की उस दशा के विषय में सोचते हुए कलेजा मुँह को आता है। तो, सोचती हूँ, मा-बाप का यह विचार—कि कन्या का विवाह कर उसे सुखी बनाना—आज के समय मे अर्थ हीन-सा हो गया है। स्त्रियों के प्रति पुरुषों की दूषित मनोवृत्ति के कारण इस विचार का सार-तत्व नष्ट हो गया है—तो, इस विश्वास को अब अपना कर्त्तव्य मान लेना निकम्मा जान पड़ता है।'

'और स्वामी! फिर मैं यह भी सोचती हूँ कि इस प्रकार वसुमति को अगर मैंने निकम्मे हाथों मे सौंप दिया—तो, मेरा और पुत्री वसुमति का विश्वास अधूरा ही रह जायेगा। हम दोनो का वह विश्वास सत्य कभी न बन सकेगा—तो, इतने दिनों की तपस्या मे अगर यों आग लगाली—तो, फिर हमे मिलेगा—क्या? रह-रहकर सुलगते-जलते जीवन की गर्मगर्म मुट्ठी-भर राख—जो, हमे खून के आँसू रुलायेगी। जीवन-भर और जन्म-जन्म।'

तभी, महाराज ने पूछा—'तो, इसका उपाय—धारिणी।'

'अखण्ड ब्रह्मचर्य।' धारिणी कहने लगी—'अगर पुत्री स्वीकार करती है—तो स्वामी।'

और धारिणी के इस उत्तर को सुनकर महाराज अचकचा-से गये। फिर, कुछ क्षणों तक सोचने के उपरान्त वह बोले—'मैं तुम्हारे विचारों से सहमत हूँ—धारिणी। अगर पुत्री अपनी इच्छा से इस महान् व्रत को स्वीकार करती है—तो।'

और महाराज के इन शब्दों को सुनकर धारिणी का विश्वास हँस पड़ा।

और दूसरे दिन प्रातःकाल

जब धारिणी सोकर उठी—तो, उसका मन उससे कहने लगा—तुम्हारे स्वामी—महाराज दधिवाहन—धारिणी! वह कितने सच्चे और युक्ति-संगत बात में विश्वास करने वाले हैं—कि आज के युग में तो उन्हें देवता कहा जा सकता है। आज जब पुरुष नारी के प्रति एक इस नृशंस और कठिन कठोर बन गया है—कि नारी को एक पशु से अधिक वह कुछ भी नहीं समझता—फिर, उसे पूर्णरूप से अपने वश में रखने के लिये उसने उसके चारों ओर बन्धनों की एक बहुत मजबूत दीवार खड़ी कर दी है—और इस तरह उसकी बुद्धि और उसके ज्ञान का समाप्त प्राय कर दिया है—फिर, उसे पिंजरे की मैना बना रक्खा है—कि वह उस सोने के पिंजरे में बन्द रहे और उसको—अपने स्वामी पुरुष को प्रसन्न करने के लिये नाचे और गाये सो भी जब वह आज्ञा दे—तब और इस प्रकार उसकी भली-बुरी इच्छाओं के वशीभूत हुई उसकी आज्ञा-कारिणी—उसके चरणों की दासी बनी रहे—तब भी महाराज ने नारी की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। उन्होंने उसके अधिकारों को स्वीकार किया है और तुम्हारी बात का ज्यों की त्यों मान ली है—तो, धारिणी! महाराज दधिवाहन देवता है—देवता!

और अपने मन की इस बात के औचित्य को स्वीकार कर धारिणी अपने नित्य के कर्मों में लगी।

फिर, कुछ ही देर के पश्चात्,

अपने महल के प्रांगण में पड़ी हुई संगमरमर की बनी चौकी पर बैठी वह ध्यान-मग्न हो सोचने लगी—वास्तव में, आज नारी का जीवन कितना हीन और दुख-पूर्ण है कि सोचते हुए भी भय-सा लगता है। वह बुद्धिजीवी होते हुए भी कैसी बुद्धिहीना बन गई है कि देखकर मन हैरान हो जाता है। तो, सत्य तो यह है—कि, सैकड़ों और हज़ारों वर्षों से पुरुष की गुलामी में रहने के कारण उसकी नैसर्गिकता बिल्कुल समाप्त ही हो गई है—और अब वह बिल्कुल बनावट की जिन्दगी व्यतीत करती है। तो, जीवन की वास्तविकता को खोकर, पुरुष की गुलामी में, उसे मिल क्या है—उत्पीड़न और ज्ञान की दृष्टि से दरिद्रता। तो, उसके जीवन की उपादेयता नष्ट हो गई है। और अब वह केवल पुरुष के लिये उसके भोग-विलास की सामग्री बनकर रह गई है—तो, तेली के बैल की भाँति पुरुष के चारों ओर चक्कर लगाती हुई अब वह अपना समूचा जीवन व्यतीत कर देती है।

और जब उसका स्वभाव ही बदल गया है—तो, अब वह कोई भी अच्छी बात सोच ही कैसे सकती है! पवित्र और उच्च भावनाओं को अपने हृदय में स्थान ही किस प्रकार दे सकती है। तो, ऊँचे उठने की बात तो अब उसके मन में उत्पन्न ही नहीं होती। वह तो अब केवल इतना ही सोचती है कि वह पुरुष को किस प्रकार प्रसन्न रक्खे—उसे किस प्रकार रिझाये—तो, यह तो उसकी सबसे बड़ी कमी है। सबसे बड़ी कमज़ोरी है। मगर हज़ारों वर्षों तक पुरुष की कैद में रहने

के कारण अब यही उसका स्वभाव बन गया है—तो, अमरत्व प्राप्त करने के लिये उसे अपने इस स्वभाव को बदलना होगा। उसे सन्मार्ग पर आगे बढ़कर अगर मोक्ष प्राप्त करना है—तो, अब वह पुरुष के लिये उसकी क्रीड़ा की वस्तु नहीं बनी रह सकती। इसके विपरीत पुरुष के सम्मुख अपनी वास्तविक उपयोगिता सिद्ध करने के लिये, उसे उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना होगा। अपने अधिकारों और अपने कर्तव्यों को समझना होगा। और इसके लिये उसे ज्ञान की आवश्यकता है—तभी वह अपने अधिकारों का सही उपयोग कर सकेगी—अन्यथा अगर वह उच्छृंखल हो गई तो उसका बचा-खुचा भी सब-कुछ नष्ट हो जायेगा। तो महान् बनने के लिये नारी को अधिकारों को जानने के साथ-साथ अपने कर्तव्यों को भी जानना परम् आवश्यक है। तभी वह कल्याण के पथ पर अग्रसर हो सकती है—अन्यथा नहीं।

और मुझे विश्वास है, वसुमति उसकी मार्ग-दर्शिका बन सके वह इस योग्य है। वह सत्-मार्ग नारी में जीवन जगाये—उसमें ऐसी सामर्थ है। वह नारी-जाति को कल्याण के पथ पर ले जासके—उसमें इतनी योग्यता है। वह——

तभी वसुमति की सखियों ने वहाँ पहुँचकर उसे प्रणाम किया—तो वह सोचते-सोचते ठहर गई। और उन्हें आशीर्वाद देने के उपरान्त वह उनसे पूछने लगी—'पुत्रियो! तुम्हारी सखी वसुमति कहाँ है? क्या अपने शयन-कक्ष में? उसे रात्रि को नींद तो ठीक हुई—और इस समय वह प्रसन्न तो है?

और माता धारिणी के इन प्रश्नों को सुनकर उनमे से वसुमति की एक सखी उससे कहने लगी—'माता! हमारी परम् प्रिय सखी वसुमति कुशल से हैं और प्रसन्न भी! इस समय वह अपने अध्यन-कक्ष में बैठी हुई विचारों में तल्लीन हैं। हमारी सखी को अपने भविष्य की चिन्ता है—और इस समय वह उसीको स्थिर करने मे लगी हैं।'

और तभी दूसरी सखी बोली—'महारानी जी! कल रात्रि को बहिन वसुमति ने एक स्वप्न देखा है—और इस समय वह उसीके साथ उलझी हैं। वह यह निश्चय करने मे लगी हैं कि वह स्वप्न अच्छा है या बुरा!'

'मगर वह स्वप्न क्या है, पुत्री!' धारिणी ने पूछा।

तो, तीसरी सखी आगे आकर बोली—'मैं बताऊँ, महारानी जी! बहिन वसुमति ने देखा है— अचानक समूची चम्पापुरी अपार और अगाध दुख-सागर मे डूब गई है—और बहिन वसुमति ने उसका उद्धार किया है।'

और वसुमति की सखी के मुख से पुत्री के स्वप्न को सुनकर धारिणी का मन खिल उठा। और वह बोली—'पुत्री का स्वप्न शुभ है—इसीलिये मैं सोचती हूँ—वसुमति का भविष्य उज्ज्वल है। शीघ्र ही उसके द्वारा कोई महान् कार्य होने वाला है। जल्दी ही ससार में उसकी महत्ता स्थापित होने वाली है—और मैं प्रसन्न हूँ।'

तभी, चौथी सखी ने कहा—'महारानीजी क्षमा करें—तो, कुछ मैं भी निवेदन करूँ।'

'जरूर कहो—पुत्री !' धारिणी ने आज्ञा दी।

और उसने कहा—'मैंने तो सुना है, महारानी जी ! स्वप्न की बात सत्य नहीं होती। सब कोई कहते हैं—वह तो मनुष्य के मन और मस्तिष्क का विकार है, जो उसको स्वप्न बनकर दिखलाई देता है। तो फिर यह सत्य किस प्रकार हो सकता है।'

और उसकी शंका का समाधान करती हुई धारिणी कहने लगी—'किसी सीमा तक तुम्हारी बात भी सत्य है—पुत्री ! जो मनुष्य मन वचन और शरीर से अपवित्र होते हैं—और जिनका मन सदा प्रपंचों में ही फँसा रहता है—ऐसे मनुष्यों के स्वप्न प्रायः असत्य ही हुआ करते हैं; मगर जो मनुष्य अपने मन वचन और शरीर से शुद्ध आचरण करने वाले होते हैं—उनके द्वारा देखे हुये सपने मिथ्या नहीं हुआ करते। मैं जानती हूँ, तुम्हारी प्यारी सखी वसुमति अपने मन वचन और शरीर से पवित्र है—तो उसका यह स्वप्न असत्य नहीं हो सकता। यह सत्य है, पुत्री ! यह निश्चय रूप से सत्य है।'

और अपने इस कथन को इस प्रकार समाप्त कर धारिणी चुप हो गई। वसुमति की सखियाँ उसे अभिवादन कर वहाँ से चली गईं और धारिणी विचारने लगी—जब मेरा विश्वास दिन-प्रतिदिन विकास को प्राप्त हो रहा है—तो, यह निश्चय है कि मेरा यह सपना भी शीघ्र ही सत्य होगा। पुत्री वसुमति निकट-भविष्य में ही कोई ऐसा कार्य जरूर कर दिखायेगी जो उसकी महत्ता का परिचायक होगा। जो

ससार मे उसे अमर बना देगा। वह अधोगति को प्राप्त हुई नारी-जाति के लिये मार्ग-दर्शिका बन उसका उद्धार कर सकेगी और इस प्रकार उसे ज्ञान के पथ पर आगे बढ़ा देगी। तो, वह अमर हो जायेगी।

तो, मैं समझती हूँ, यह सत्य है कि वह अपना विवाह नहीं करेगी और पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य का पालन कर, आदिनाथ भगवान ऋषभदेव की पवित्र आज्ञा को शिरोधार्य करती हुई—वह अपना समूचा जीवन आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण मे व्यतीत कर देगी—और अन्त मे कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जायेगी।

वसुमति मोक्ष प्राप्त कर लेगी। और मुझे ऐसी महान् आत्मा की माता होने का गौरव प्राप्त होगा।

और इस प्रकार सोचती हुई धारिणी सुख के अथाह सागर मे डूब-सी गई।

फिर, यह सोचकर कि महाराज ने इस सम्बन्ध मे पुत्री की सम्मत्ति जान लेने का भार उसे सौंपा है—वह वहाँ से उठी और वसुमति के अध्यन-कक्ष की ओर चली। मार्ग मे वह सोच रही थी—उसके पति, महाराज दधिवाहन कितने अच्छे पति, कितने अच्छे पिता और कितने अच्छे पुरुष हैं—कि उनके विषय मे सोचते हुये आत्मा मे एक प्रकाश-सा जग जाता है—और मन कहता है—काश, सभी पुरुष ऐसे होते तो ससार मे सस्कारी वातावरण कितना शुद्ध और पवित्र होता। फिर, नारी और नर के बीच की यह विषमता उससे

कोसों दूर होती—और पुरुष और स्त्री दोनों का ही जीवन सुखी और आनन्द होता। ज्ञान की अखंड ज्योति के उज्ज्वलतर प्रकाश में दोनों ही अपने मोक्ष के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ते और अन्त में कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते।

और तब अपनी कल्पना की सहायता से अपने विचारों का संसार निर्मित कर वह सोचते-सोचते ठहर गई। फिर, वह देखने लगी—उसके विचारों के संसार के निवासी कितने सुखी और पवित्र हैं। वे एक-दूसरे के प्रति कितने सहिष्णु हैं। वे प्रत्येक की उसकी एक अलग सत्ता समझते हैं—तो उन सभी के जीवन का उपयोग भली-भाँति हो पाता है। वे जीवन की वास्तविकता में विश्वास करते हैं—तो, उनका अपना महत्व बढ़ गया है।

—

और यह देखकर धारिणी आँखों ही आँखों में मुस्कराती है—तो उसका विश्वास उससे कहने लगता है—तुम्हारी आशा का यह संसार शीघ्र ही निर्मित होगा धारिणी! धीरज धरो और देखो! पुत्री वसुमति के द्वारा तुम्हारे इस संसार की सृष्टि होगी और तुम एक आदर्श माता होने का गौरव प्राप्त करोगी।

और धारिणी खिलखिलाकर हँस पड़ती है।

फिर वसुमति के अध्ययन-कक्ष के द्वार पर पहुँचकर वह देखती है—उसकी अपनी पुत्री किन्हीं विचारों में तल्लीन है—तो उसे पुत्री की सखी के ये शब्द याद हो आते हैं—'कल रात्रि का बहिन वसुमति ने एक स्वप्न देखा है—और इस

समय वह उसीके साथ उलझी है। वह यह निश्चय करने मे लगी है कि वह स्वप्न अच्छा है या वुरा।' और वह यह याद कर द्वार पर ही ठहर जाती है।

मगर तभी वसुमति उसे देख लेती है—तो, वह उसे अभिवादन कर उसका स्वागत् करती है—और धारिणी का हृदय विहॅसने लगता है। वह स्नेह की वर्षा-सी करती हुई पुत्री को आशीर्वाद देती है—'जीवित रहो, पुत्री! और निरन्तर लोक-कल्याण के पथ पर आगे वढ़ो।'

और माता का यह आशीर्वाद वसुमति के पवित्र हृदय मे परमानन्द की एक लहर-सी उत्पन्न कर देता है—तो, माता के सम्मुख वह झुक-सी जाती है—तो, इस तरह वह उसके आशीर्वाद को अपने शीश पर धारण करती है।

और वसुमति का यह भाव धारिणी को वहुत प्रिय है। ऐसे अवसर पर वह हर्ष से गद्गद् हो जाती है।

तो, अव भी हर्ष से गद्गद् हुई धारिणी पुत्री के अध्ययन-कक्ष मे भीतर घुसी और एक आसन पर वैठकर पुत्री को पास में विठाकर कहने लगी—'पुत्री! अभी-अभी तुम्हारी सखियों ने मुझे वतलाया है—कि गत्-रात्रि को तुमने कोई स्वप्न देखा है—और अव तुम इस वात मे उलझी हो कि वह अच्छा है या वुरा।'

'हॉ, माता! सखियों ने आप से सत्य ही कहा है। गत्-रात्रि को मैंने देखा था—चम्पापुरी अचानक भयकर दु ख-

सागर में डूब गई है—तो उसका रूप कुरूप हो गया है। पुरी में चारों ओर हा हाकार मचा है—भयंकर मार-काट और लूट-मार के कारण। समूची नगरी को आततायी लूटने में लगे हैं—और ऐसा करते समय वे इस बात का किंचित् भी विचार नहीं करते—कि यह बच्चा है, यह बूढ़ा है और यह स्त्री है। तो ऐसा जान पड़ता था, उस समय—मानो वे लोग तो केवल कत्ल करना जानते हैं और अपने उस काम को बहुत खुशी के साथ कर रहे हैं। और माता यह क्रम फिर कई दिनों तक चलता है—तो समूची पुरी तबाह और बरबाद हो जाती है। और तब उसमें किसी आदर्श-हीन राजा का राज्य हो जाता है—तो दिन-प्रतिदिन उसके दुख बढ़ते ही जाते हैं—बढ़ते ही जाते हैं—और बहुत दिनों के बाद एक दिन, फिर उसके जीवन में ऐसा भी आता है—कि उस राजा के हाथों से चम्पापुरी का उद्धार फिर मेरे द्वारा होता है। और उस दिन समूची नगरी खिलखिलाकर हँस पड़ती है। वह विविध प्रकार के आनन्दोत्सव करती है।'

तो माता! अब मैं यही सोच रही हूँ—कि मेरे इस स्वप्न का मेरे साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है ! राजों के प्रासाद में जाना तो बहुत बड़ी बात है, अब मैंने उनको कभी छूकर भी नहीं देखा है—तो उस अधार्मिक राजा से चम्पापुरी का उद्धार मैं कैसे और किस उपाय के द्वारा कर सकती हूँ। फिर मैं यह भी सोचती हूँ कि यह स्वप्न अच्छा है या बुरा ! इसका फल सुखदायी है अथवा दुःख-पूर्ण ! यह स्वप्न शुभ है या अशुभ !

और माता से ये प्रश्न कर वसुमति ने एक वार धारिणी के मुख की ओर देखा—फिर, नीची नजर कर वह मौन हो गई।

तो, प्रसन्न मन से धारिणी कहने लगी—'पुत्री ! वसुमति ! तुम्हारे इस स्वप्न को सुनकर मेरा मन मुझसे कहता है कि मैं तुमसे कहूँ—तुम्हारा यह स्वप्न शुभ है, पुत्री ! वह अशुभ नहीं। मुझे जान पडता है, तुम्हारे द्वारा शीघ्र ही कोई महान् कार्य सम्पन्न होने वाला है, जो तुम्हें महत्ता प्रदान कर ससार मे अमर कर देगा। तो, तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है। वह मेरे विश्वास के अनुरूप है—और मैं खुश हूँ—वहुत खुश !'

'तो, पुत्री ! मेरी इस वात पर तुम विश्वास करो—और स्वप्न की चिन्ता से मुक्त हो जाओ। फिर, इस सम्वन्ध मे मैं तुमसे एक वात और कहूँ—वसुमति ! कि शस्त्र-वल ही ससार मे सवकुछ नहीं होता। आत्मिक वल—पुत्री, शस्त्र-वल से वहुत अधिक शक्तिशाली है। यह सत्य है—वसुमति ! आत्म-वल के सम्मुख शस्त्र-वल झकमारा करता है। ये दो प्रकार के वल जव परस्पर टकराते हैं—तो, पहिले-पहिले कुछ दिनों तक तो जरूर ऐसा प्रतीत होता है—पुत्री, जैसे शस्त्र-वल अपने विपक्षी आत्म-वल पर हावी हो रहा है, मगर वास्तव मे ऐसा नहीं होता—और अन्त में विजय आत्म-वल की ही होती है। तो, आत्म-वल पुत्री, शस्त्र-वल से वहुत अधिक शक्तिशाली है। वह ससार में सवसे वड़ा वल है। और वह अद्वितीय है, वह अनोखा है, पुत्री !'

यह कहते-कहते धारिणी रुकी तो वसुमति को ऐसा अनुभव हुआ—जैसे एकाएक मन का भ्रम दूर हो गया है। फिर, वह अपने स्वप्न के विषय में सब-कुछ समझ गई है। सब-कुछ समझ गई है—तो उसका मस्तिष्क हल्का-हल्का हो गया है।

और ऐसा अनुभव कर वसुमति की खुशी उसके नेत्रों में चमकने लगी—और वह बोली—'माता! अगर कोई महान् कार्य मुझ से बन पड़ता है—तो उसका श्रेय आपको होगा। मैं तो आपकी आज्ञा का पालन करने वाली एक अल्प-बुद्धि और साधारण-सी बालिका हूँ—तो कोई भी बड़ाई का कार्य अगर मुझ से हो पाता है—तो वह केवल आपके आशीर्वाद की सहायता से—और उस गौरव की सच्ची अधिकारिणी फिर आप हैं—माता!'

और वसुमति अपनी अच्छी मां धारिणी के चरणों का स्पर्श कर स्वयं में ही सकुच-सी गई।

तो पुत्री की ओर अपलक नेत्रों से देखती हुई धारिणी कहने लगी—'अब तुम आदर्श पिता की आदर्श पुत्री हो—वसुमति तो तुम्हें इसी प्रकार की बातें कहना शोभा देती हैं। मैं तुमसे बहुत अधिक प्रसन्न हूँ। और तुम्हारे पिता की आज्ञा को अपने शीश पर धारण कर तुम से एक बात पूछने की अभिलाषा रखती हूँ—मुझे विश्वास है, मेरे इस प्रश्न का उत्तर देते समय तुम मेरी आशा, अपने जीवन की उपयोगिता और मन की इच्छा का ध्यान रखोगी—जिससे तुम्हारा उत्तर मेरे प्रश्न के अनुकूल हो। तुम्हारे पिता ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुमसे पूछूँ—क्या तुम विवाह करने की अभिलाषिणी हो—

अथवा आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन कर आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के पथ पर अग्रसर होना चाहती हो ? क्या तुम सांसारिक सुखोपभोग मे विश्वास करती हो—या अपना और ससार का कल्याण करने मे ? मैं बताऊँ—वसुमति ! तुम्हारे पिता चाहते हैं कि तुम्हारे जीवन के विषय मे निर्णय करने से पूर्व इस सम्बन्ध मे तुम से भी पूछ लिया जाये—और तुम्हारी इच्छा के अनुकूल कार्य किया जाये। महाराज का विश्वास है, जब प्रत्येक जीव—प्रत्येक आत्मा की अपनी एक अलग सत्ता है—तो, अपना कोई निर्णय किसी दूसरे पर लादा क्यों जाये। इसीलिये, अपने इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने तुमसे मेरे द्वारा माँगा है। विश्वास है, इस सम्बन्ध मे बहुत ही सोच समझ कर तुम मुझसे कुछ कहोगी। और वह कुछ भी तुम्हारी आत्मा की पुकार होगी। वह सत्य बात होगी। अपनी अच्छी बेटी पर मुझे भरोसा है।'

वह अभी भी वसुमति को एकटक देख रही थी।

और वसुमति माता के मुख से अपने पिता की इस आज्ञा को सुन विचारों मे डूब-सी गई, मगर एक ही क्षण के उपरान्त वह बोली—'माता ! पूज्य पिता के इस प्रश्न को आपके श्रीमुख से सुनकर मैं कुछ सोचती-सी रह गई हूँ, मगर आपका और पूज्य पिताजी का सरक्षण जब मुझे प्राप्त है—तो, इस प्रश्न का उत्तर देते हुये मुझे किसी भी प्रकार की दुविधा नहीं सता रही है—और मैं निशक होकर आपसे पूछना चाहती हूँ—जब आप मुझ से कोई महान् कार्य कराने की अभिलाषा अपने मन मे पालती हैं—तो, फिर मेरे विवाह की बात आप अपने

मन में ही क्यों आती है ? अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर जो शक्ति मुझे प्राप्त होगी—फिर जिस अपरिमित शक्ति की सहायता से मैं अपने जीवन की उपयोगिता को संसार के सम्मुख स्पष्ट कर सकूँगी – क्या यह सब कुछ विवाह कर लेने पर संभव हो सकेगा। क्या मैं उस दशा में आपके विचारों को सत्य का रूप देने में समर्थ हूँगी ?

और प्रश्न के उत्तर में प्रश्न कर वसुमति ने अपनी माता के मुख की ओर देखा—तो धारिणी बोली—'नहीं पुत्री ! फिर ऐसा न हो सकेगा। मगर क्योंकि अच्छे माता-पिता का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तान को सुखी बनायें—अपने बच्चों की उचित बात को स्वीकार करें—इसलिये उनके जीवन के सम्बन्ध में निर्णय करने से पूर्व उनसे परामर्श करलें—और तब अपनी सन्तान के हित कोई कार्य करें। इसीलिये महाराज ने तुम्हारे जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी करने से पूर्व तुमसे पूछ लेना उचित समझा—और मैं समझती हूँ यह आवश्यक भी था।

और अपने इन शब्दों को समाप्त कर धारिणी चुप हो गई—तो वसुमति कहने लगी—'क्षमा करिये माता जी ! पिता जी या आपके प्रति मैं अभद्र होने की बात नहीं सोचती; मगर मेरे सम्मुख इस समय एक ही कठिनाई उपस्थित है कि मैं विवाह करने के प्रति तो उदासीन हूँ, लेकिन साथ ही आजन्म ब्रह्मचर्य का व्रत भी उससे पूर्व नहीं लेना चाहती जब तक कि इस व्रत की अपनी शक्ति से मैं परिचित न हो जाऊँ—तो पिता जी के प्रश्न का उत्तर देने के लिये मुझे कुछ

समय की आवश्यकता है। मगर यह सत्य है कि आज कल मैं पूर्ण रूप से इस महान् व्रत को धारण करने के प्रयत्न मे ही जुटी हूँ—और विवाह करने की बात तो मैं सोचती तक भी नहीं। उस ओर मैं कभी ध्यान भी नहीं देती।'

'माता। जब आपकी दया के फल-स्वरूप मैंने ब्रह्मचर्य की महत्ता को भली प्रकार से समझ लिया है और आज के ससार की आवश्यकता से भी मैं पूर्णरूप से परिचित हो गई हूँ—फिर, धर्म की शक्ति से भी—तो, सच माता। मेरा मन अब मुझसे हर समय यही कहता रहता है—वह केवल एक ही बात मुझसे कहता है—वह कहता है—मानव-जन्म की उपयोगिता इसी मे है, वसुमति। तुम अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर अपनी आत्मा के कल्याण के पथ पर आगे बढो—और इस प्रकार आज के ससार की आवश्यकता की पूर्ति कर जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाओ। उससे छुटकारा पा जाओ—तो, आत्मा से परमात्मा बन जाओ।'

'और मैं इस सत्य को अच्छी तरह से जानती हूँ—माता, मेरे मन की यह बात मेरी अच्छी मा की मेरे लिये आज्ञा है—और अपनी माता की आज्ञा का पालन करना मैं अपना कर्त्तव्य समझती हूँ। मैं अपना धर्म समझती हूँ। मगर मैं आपकी इस पवित्र आज्ञा का पूर्णरूप से पालन कर सकूँ—इसके लिये मुझे समय की आवश्यकता है—माता। और मुझे विश्वास है, मेरी अच्छी मा मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करेगी। वह मुझे अपनी इस ओर की शक्ति से परिचित होने की आज्ञा देगी।'

और इस प्रकार प्रार्थना कर वसुमति मौन हो गई।

और अपनी बुद्धिमती पुत्री के मुख से निकले हुये इन शब्दों को सुन धारिणी फूल-सी खिल उठी। उसके मुख पर कोमल हास्य की आनन्दमय रेखाएँ उभर आईं और वह बोली—'कल्याण के इस पथ पर आगे बढ़ो—पुत्री! मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। भविष्य तुम्हारा उज्ज्वल है, मुझे विश्वास है।'

अब, माता का वरद् हस्त श्रद्धा से नत-मस्तक हुई पुत्री के शीश पर ऊपर उठा था।

और कुछ ही दिनों के बाद

और इस प्रकार प्रार्थना कर वसुमति मौन हो गई ।

और अपनी बुद्धिमती पुत्री के मुख से निकले हुये इन शब्दों को सुन धारिणी फूल-सी खिल उठी । उसके मुख पर कोमल हास्य की आनन्दमय रेखाएँ उभर आईं और वह बोली—'कल्याण के इस पथ पर आगे बढ़ो—पुत्री ! मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है । भविष्य तुम्हारा उज्ज्वल है, मुझे विश्वास है ।

अब माता का वरद् हस्त श्रद्धा से नत-मस्तक हुई पुत्री के शीश पर ऊपर उठा था ।

१३

एक दिन,

पास मे वैठी हुई वसुमति से धारिणी कहने लगी—
'सात्विक अपने निर्णय से विमुख होने का अर्थ है, पुत्री! पतन की ओर चलना। उस ओर जाना जिस ओर दृढ़-प्रतिज्ञ मनुष्य कभी ऑख उठाकर भी नहीं देखते। फिर, उनका जीवन रहे न रहे, मगर वे अपने पथ से विचलित कभी नहीं होते—तो, वे ऐसे, जीवन मे जो कुछ भी निर्णय करते है, वहुत ही सोच-समझ कर! उस पर भली प्रकार से विचार करने के पश्चात्! पतन की ओर जाने के लिये नहीं, पुत्री! कल्याण और गौरव के पथ पर अग्रसर होने के लिये! फिर, ऐसे वे दृढ़-निश्चय करने वाले दिन-प्रतिदिन अपने लक्ष्य की ओर वढते ही जाते हैं—वढते ही जाते हैं और अन्त मे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। वे विजयी होते हैं और इस ससार मे उनका धन्य माना जाता है।'

साथ, मुक्ति-पथ पर आगे बढ़ूँगी।' और सच—पुत्री! वह शुभ दिन मेरे जीवन का सबसे सुन्दर दिन होगा।'

और तब उसने वसुमति के नेत्रों मे देखा—और पुत्री की आँखों मे अपने विश्वास का चित्र अंकित देख वह अपार हर्ष मे भर उससे कहने लगी—'तुम्हारे जन्म से पूर्व—पुत्री, मैं अपने हृदय मे आदर्श भार्या बनने की इच्छा पालती थी—और जब तुमने जन्म ग्रहण किया—तो, मेरा पत्नि-रूप सफल हो गया। मैं जननी बन सकी—तो, एक सर्वाङ्ग-पूर्ण भार्या भी बन गई। फिर, माता का मेरा कर्तव्य मुझे गुदगुदाने लगा। वह रोज मुझ में अपना विश्वास जगाने लगा—तो, मैं आदर्श माता, एक साध्वी की माता बनने की उत्कट अभिलाषा को अपने मन में छिपाये दिन-प्रतिदिन अपने उस विश्वास के निकट और निकटतर होती गई और आज पुत्री, अपने विश्वास का सत्य-स्वरूप, तुम्हारी आँखों मे देखकर, मैं मन ही मन खिलखिला कर हँस पड़ी हूँ। सच पुत्री! इन क्षणों मे मुझे कुछ ऐसा जान पड़ रहा है—जैसे मुझे कुछ बहुत ही अलौकिक कुछ बहुत ही अनोखा और कुछ बहुत ही आवश्यक मिल पा रहा है—तो, मैं स्वर्गीय सुख का अनुभव करती हुई बहुत ही ऊँची—बहुत ही ऊँची उठती चली जा रही हूँ—और सन्तुष्ट हूँ।'

और यह कहते-कहते धारिणी के नेत्र बन्द हो गये—वह बोलते-बोलते चुप हो गई—तो, वसुमति को ऐसा जान पड़ा—जैसे उसकी गति भग हो गई है और वह बीच ही मे अटक कर अनिच्छा से वहीं ठहर गई है। मा के इन शब्दों

'तो जीवन में कुछ भी निर्णय करने का अर्थ है—तुम्हारा वह निर्णय आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण की पावन भावना से ओत प्रोत हो। सत्य का वह प्रतीक हो—और समान रूप से सभी के मनों में आनन्द की चल-लहरी प्रवाहित करदे। चन्द्रमा और सूर्य के समान सभी को अपना प्रकाश दे—और जगमग-जगमग करते उसके निर्मल प्रकाश में सभी हँसें और मुस्करायें और परम् पवित्र उस पथ पर आगे बढ़ चलें—तो, कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जावें।',

'तो उस दिन यह जानकर मैं प्रसन्न हुई—पुत्री कि तुम अपने जीवन के सम्बन्ध में निर्णय करने से पूर्व सभी बातें भली प्रकार से समझ लेने की इच्छा रखती हो—फिर, अपने उस निर्णय पर दृढ़ रहने के लिए स्वयं में पहिले इतनी शक्ति भी इकट्ठी कर लेना चाहती हो कि अपनी उस शक्ति की सहायता से गति-हीन हुए बिना निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती चली जाओ—और मार्ग में कहीं भी न रुको—तो अन्त में अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाओ। अपने लक्ष्य को प्राप्त करलो।

'फिर, उस दिन के बाद तुमने अपनी शक्ति को बटोरने में प्राणपण से चेष्टा की है—तो यह देखकर मैं अपार आनन्द में भर उठी हूँ—और सोचती हूँ—अब वह शुभ दिन दूर नहीं है, वह बहुत ही समीप है—बहुत ही समीप, वसुमति! जिस दिन तुम मुझसे कहोगी—'माता! आज मैंने सभी पवित्र आत्माओं को साक्षी कर यह प्रतिज्ञा की है—कि मैं विवाह नहीं करूँगी और आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन कर दृढ़ता प

९

साथ, मुक्ति-पथ पर आगे बढ़ूँगी।' और सच—पुत्री! वह शुभ दिन मेरे जीवन का सबसे सुन्दर दिन होगा।'

और तब उसने वसुमति के नेत्रों मे देखा—और पुत्री की आँखों मे अपने विश्वास का चित्र अंकित देख वह अपार हर्ष मे भर उससे कहने लगी—'तुम्हारे जन्म से पूर्व—पुत्री, मैं अपने हृदय मे आदर्श भार्या बनने की इच्छा पालती थी—और जब तुमने जन्म ग्रहण किया—तो, मेरा पत्नि-रूप सफल हो गया। मैं जननी बन सकी—तो, एक सर्वाङ्ग-पूर्ण भार्या भी बन गई। फिर, माता का मेरा कर्तव्य मुझे गुदगुदाने लगा। वह रोज मुझ में अपना विश्वास जगाने लगा—तो, मैं आदर्श माता, एक साध्वी की माता बनने की उत्कट अभिलाषा को अपने मन मे छिपाये दिन-प्रतिदिन अपने उस विश्वास के निकट और निकटतर होती गई और आज पुत्री, अपने विश्वास का सत्य-स्वरूप, तुम्हारी आँखों मे देखकर, मैं मन ही मन खिलखिला कर हँस पड़ी हूँ। सच पुत्री! इन क्षणों मे मुझे कुछ ऐसा जान पड़ रहा है—जैसे मुझे कुछ बहुत ही अलौकिक कुछ बहुत ही अनोखा और कुछ बहुत ही आवश्यक मिल पा रहा है—तो, मैं स्वर्गीय सुख का अनुभव करती हुई बहुत ही ऊँची—बहुत ही ऊँची उठती चली जा रही हूँ—और सन्तुष्ट हूँ।'

और यह कहते-कहते धारिणी के नेत्र मन्द हो गये—वह बोलते-बोलते चुप हो गई—तो, वसुमति को ऐसा जान पड़ा—जैसे उसकी गति भग हो गई है और वह बीच ही में अटक कर अनिच्छा से वहीं ठहर गई है। मा के इन शब्दों

की लय के सहारे वह स्वर्ग के द्वार तक आ पहुँची है; मगर उस द्वार में प्रवेश करने से वह रुक गई है। और तभी उसने माता की ओर देखा—और धारिणी हँस पड़ी—जीवित और स्फूर्तिदायक हँसी।

और वसुमति ने प्रार्थना की—'माता! आपके आशीर्वाद की सहायता से अपनी शक्ति को मैंने जान लिया है—अब मैं उस ओर आगे बढ़ूँगी। मुझे आशीष दो—माँ!' और इतना कहकर वसुमति ने अपना शीश माता के चरणों में रख दिया। और धारिणी का आज सब-कुछ मिल गया। उसे रोमांच हो आया और उसने वसुमति को उठाकर अपने हृदय से लगा लिया।

फिर पुत्री को सामने बिठाकर वह बोली—'इन्द्र-धनुष के मनोहर रंग कितने चित्ताकर्षक होते हैं—वसुमति! मगर कितने अस्थायी और कितने क्षणिक! मानो, अभी-अभी वे थे—और अब नहीं—और..........'

तभी एक दासी ने वहाँ उपस्थित होकर कुछ निवेदन करने की आज्ञा माँगी—और धारिणी आगे की बात कहते-कहते रुक गई।

और आज्ञा पाकर दासी कहने लगी—'महारानीजी की जय हो! अशुभ समाचार सुनाने के लिए दासी क्षमा चाहती है। सूचना मिली है कि पड़ोसी राज्य कौशाम्बी के महाराज शतानीक ने अकारण ही चम्पा के राज्य पर चढ़ाई करदी है। दोनों दलों की सेनाओं के बीच सीमा पर युद्ध हो रहा

है। और यहाँ पर यह अशुभ आशा जोर पकड़ रही है कि सन्तानिक के सैनिक शीघ्र ही चम्पा-राज्य की सीमा भेदकर राजधानी में प्रवेश कर जायेंगे। महाराज ने तुरन्त ही राज्य के सभी मन्त्रियों की एक आवश्यक सभा बुलाई है।' और यह निवेदन कर दासी नत-मस्तक हो खड़ी हो गई।

'जा सकती हो।' धारिणी ने आज्ञा दी।

दासी चली गई—और धारिणी पुत्री से कहने लगी—'धर्म से विमुख हुआ मनुष्य सोचता है—पुत्री, धन ही सब-कुछ है। मगर धर्म-परायण मनुष्य के लिये धन एक बहुत ही छोटी और तुच्छ वस्तु है। धर्म-विमुख मनुष्य धन-कुबेर बनने की इच्छा से प्रेरित होकर संसार के सभी पाप बड़ी सुगमता से करता है। धन को प्राप्त करने के लिये वह भले-बुरे सभी काम बड़ी आसानी से कर डालता है। किसी भी बुरे काम को करने में उसे हिचकिचाहट का अनुभव कभी नहीं होता। वह तो यह सोचता तक भी नहीं कि वह कोई बुरा कार्य कर रहा है, बल्कि इसके विपरीत वह उस पाप-कर्म को करते हुये एक अनोखे आनन्द, एक अनोखे सुख का अनुभव करता है—और प्रसन्न होता है। उस समय वह स्वयं को बहुत ही चतुर और बहादुर समझता है—क्योंकि, वह धर्म से विमुख है—और उसकी आत्मा मर चुकी है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह की महत्ता को वह जानता ही नहीं। कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाने की बात वह सोचता ही नहीं। मोक्ष के अस्तित्व में वह विश्वास ही नहीं करता। वह तो भौतिक सुखों को प्राप्त करने में ही अपनी समूची

शक्ति खर्च कर देता है, आत्मा के आनन्द को वह जानता ही नहीं और एक दिन इस संसार से चल देता है—इसलिए कि वह फिर जन्म ग्रहण करे—और अपने पाप का बोझ बढ़ाये।'

'मगर धर्म-परायण मनुष्य ऐसे उस धर्म से विमुख हुये मनुष्य के ठीक विपरीत आचरण करता है। वह धन को बहुत ही तुच्छ समझता है—और उसे तृणवत् त्याग देता है। धर्म में उसका विश्वास अडिग है—और आत्मा की उन्नति के पथ पर वह निरन्तर आगे बढ़ता है। एक राज्य तो क्या, समूचे संसार के अनेक राज्य भी उसे अपने मार्ग से नहीं हटा सकते। उसे अपने धर्म से विचलित नहीं कर सकते। आत्मा का आनन्द ही उसके लिये सबकुछ है—अपने भौतिक सुख की ओर तो वह ध्यान भी नहीं देता। फिर, किसी को दुःख देना—अथवा कष्ट पहुँचाना, झूँठ बोलना—अथवा असत्य आचरण करना, मन में चोरी या परिग्रह की भावना रखना इन सबको वह पाप-रूप समझता है। पाप समझता है। और वह ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता———।'

तभी एक दासी हड़बड़ाई-सी कमरे में प्रवेश कर घबराहट भरे स्वर में कहने लगी—'महारानी की जय हो! बहुत बुरा समाचार है। कौशाम्बी के महाराज शतानिक की सेना राजधानी में प्रवेश कर गई है। महाराज ने युद्ध से अनिच्छा प्रकट की है और अपने मन्त्रियों की सलाह का स्वीकार करने में असमर्थता—और उन्होंने कहा है—'राज्यों का मुकाबला सेना से करने का अर्थ है—प्रजा का घोर संकट

में डालकर अपने सुख की रक्षा करना—और मैं ऐसे सुख को वचाये रखने की इच्छा नहीं रखता, जिसमे निरपराध प्रजा का रक्त वहकर भूमि को लाल करदे। राजनीति राजा की स्वार्थ-बुद्धि की परिचायक है—वह धर्म के विरुद्ध है—और मैं उसमे विश्वास नहीं करता।' और इस प्रकार अपने मन्त्रियों को समझाने के उपरान्त अन्त मे महाराज ने उनसे कहा—'मैं सन्तानिक को समझाने के लिये उसके पास जाऊँगा—आज ही और अभी।' और महारानी जी, महाराज के इन शब्दों को सुनकर सभी मन्त्री शंकित हो उठे—तो, महाराज शका के चिह्नों को अपने मन्त्रियों के मुखों पर देखकर उनसे कहने लगे—'प्रिय मन्त्रीगण। मेरे निर्णय को जानकर जो तुम सभी मेरी सुरक्षा के सम्बन्ध मे शकित हो उठे हो—तो, यह तुम्हारा भ्रम है। मैं कायर नहीं हूँ, जो सन्तानिक मुझे वन्दी वना सके। तुम विश्वास करो, मैं अपनी रक्षा कर-सकने मे समर्थ हूँ—और मैं सोचता हूँ, सन्तानिक ने भ्रम-वश ही चम्पा पर चढ़ाई करदी है—तो, मैं उसके भ्रम को दूर कर दूँगा—और वह अपनी राजधानी को वापिस लौट जायेगा।' और अपने कथन को इस प्रकार समाप्त कर, महारानी जी, महाराज ने सभा विसर्जित करदी। सभी मन्त्री निराश होकर अपने-अपने स्थानों को लौट गये—और महाराज घोड़े पर सवार होकर अपनी इच्छा से अकेले ही दुश्मन के शिविर की ओर चले गये हैं।'

और अपनी स्वामिनी के सम्मुख सव कुछ निवेदन कर दासी चुप हो गई—फिर, वह कमरे से वाहर चली गई—

और धारिणी बड़ी शान्त-भाव से वसुमति से कहने लगी—'मैं जानती हूँ वसुमति! तुम्हारे पिता कायर नहीं वह वीर हैं—और क्षत्रियोचित् सभी गुण उनमें विद्यमान हैं; मगर उनकी मान्यता है—राजा अपनी प्रजा का सेवक होता है, उसका स्वामी नहीं। तो वह उसका रक्षक है, विनाशक नहीं। फिर, उसे अधिकार ही क्या है कि अपनी असत्य और अधार्मिक भावनाओं को छल और कपट के परिष्कृत रूप राजनीति का नाम देकर प्रजा के रक्त से होली खेले। वह अपनी प्रजा को इसलिये उस ओर प्रेरित करे—अथवा अपनी शक्ति की सहायता से बलात् उसे युद्ध में झौंक दे—क्योंकि इस प्रकार उसके राज्य का विस्तार होता है—तो उसके भौतिक सुखों में वृद्धि! और इसीलिये अपनी प्रजा की रक्षा के निमित्त स्वयं को संकट में डालकर वह महाराज सन्तानिक के पास चले गये हैं। और मैं इस सुसंवाद को सुनकर गौरव का अनुभव करती हूँ।'

और एक क्षण के मौन के पश्चात् वह फिर कहने लगी—'तुम नहीं जानती—वसुमति! कौशाम्बी के महाराज सन्तानिक तुम्हारे मौसा हैं। मगर धर्म की महत्ता से अपरिचित और पवित्रता से बहुत दूर! उनका विश्वास है, संसार के भोगों का भोग करना ही सर्वोपरि है—इसीलिये उन्होंने यह अधार्मिक और स्वार्थ की विषयुक्त भावना से ओत-प्रोत अन्याय के पथ से च्युत कर देने वाला और परम निन्दनीय कार्य भी बड़ी सरलता से कर डाला है—और तुम्हारे पिता उन्हें समझाने के लिये उनके पास गये हैं! यदि वह अपनी बात पर उन्हें राजी कर सके—तो ––– –––'

और आगे की अपनी बात कहते-कहते धारिणी रुक गई—तभी, उसने वसुमति की ओर देखा। वसुमति अपनी माता की प्रत्येक बात को निश्चल भाव से बहुत ही ध्यान-पूर्वक सुन रही थी—तो, माता को अपनी बात के बीच ही में एकाएक चुप हो जाते देख वह चौंक-सी पडी। फिर, और भी कुछ सुनने की इच्छा को अपने हृदय मे बसाये वह जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से माता की ओर देखने लगी। वास्तव मे, आज न जाने क्यों उसका मन बार-बार यही कह रहा था—आज सुनती चली जाओ, वसुमति ! यह सब कुछ सुन लेने में ही तुम्हारा कल्याण है। अगर आज वह सब कुछ तुम सुन सकीं, जो, तुम्हारी माता तुमसे कहना चाहती है—तो, कल्याण के पथ पर अग्रसर होने में वह तुम्हारे लिये सहायक सिद्ध होगा। मैं जानता हूँ—वसुमति, कि आज तक तुमने बहुत-कुछ सुना है और उसका अपने जीवन मे तुमने समावेश भी कर लिया है, मगर आज उस सबको अगर तुम सार-रूप मे भी सुन सकीं—तो, धर्म के पथ पर बढ चलने में तुम्हें सहायता मिलेगी। तुम्हारा मार्ग सरल हो जायेगा।

तभी, धारिणी उससे कहने लगी—'पुत्री ! यह चौर्य और परिग्रह नहीं—तो, और क्या है ? किसी की वस्तु को बल-पूर्वक अपने अधिकार में करना—अथवा कर लेना, बिना उससे पूछे, बिना उसकी आज्ञा के—तो, यह चौर्य और परिग्रह नहीं—तो, और क्या है ? किसी दूसरे व्यक्ति की किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये दूसरा व्यक्ति अपनी आत्मा का हनन स्वयं अपने हाथों कर डाले, लोभ के वशीभूत

और धारिणी उसी शान्त-भाव से वसुमति से कहने लगी—'मैं जानती हूँ वसुमति ! तुम्हारे पिता कायर नहीं वह वीर हैं—और क्षत्रियोचित सभी गुण उनमें विद्यमान हैं; मगर उनकी मान्यता है—राजा अपनी प्रजा का सेवक होता है, उसका स्वामी नहीं। तो वह उसका रक्षक है, विनाशक नहीं। फिर, उसे अधिकार ही क्या है कि अपनी असत्य और अधार्मिक भावनाओं को छल और कपट के परिष्कृत रूप राजनीति का नाम देकर प्रजा के रक्त से होली खेले। वह अपनी प्रजा को इसलिये उस ओर प्रेरित करे—अथवा अपनी शक्ति की सहायता से बलात् उसे युद्ध में झोंक दे—क्योंकि इस प्रकार उसके राज्य का विस्तार होता है—तो उसके भौतिक सुखों में वृद्धि ! और इसीलिये अपनी प्रजा की रक्षा के निमित्त स्वयं को संकट में डालकर वह महाराज शतानिक के पास चले गये हैं। और मैं इस सुसंवाद को सुनकर गौरव का अनुभव करती हूँ।'

और एक क्षण के मौन के पश्चात् वह फिर कहने लगी—'तुम नहीं जानती—वसुमति ! कौशाम्बी के महाराज शतानिक तुम्हारे मौसा हैं। मगर धर्म की महत्ता से अपरिचित और पवित्रता से बहुत दूर ! उनका विश्वास है, संसार के भोगों का भोग करना ही सर्वोपरि है—इसीलिये उन्होंने यह अधार्मिक और स्वार्थ की विषयुक्त भावना से ओत-प्रोत अभ्यास के पथ से च्युत कर देने वाला और परम निन्दनीय कार्य भी बड़ी सरलता से कर डाला है—और तुम्हारे पिता उन्हें समझाने के लिये उनके पास गये हैं ! यदि वह अपनी बात पर उन्हें राजी कर सके—तो ——'

बनो। स्वयं बनो और दूसरों को बनाओ। अपना और दूसरों का कल्याण करो। अपनी आत्मा में परमात्मा का प्रकाश जगादो—और आत्मा से परमात्मा बन जाओ।'

'और—पुत्री! धर्म-शील, साधु-वृत्ति वाला मनुष्य यही करता है। वह स्वयं धर्म के पथ पर आगे बढ़ता है—और दूसरों को भी उस मार्ग पर आगे बढ़ाता है। अपने कल्याण के साथ-साथ वह सभी का कल्याण करता है। वह सभी '

तभी, एक दासी थर-थर काँपती-सी वहाँ पर पहुँची और कहने लगी—'जीवन का हरण करने वाला समाचार है, महारानी जी! प्राणों की रक्षा करने का प्रश्न उपस्थित हो गया है। सूचना मिली है कि सन्तानिक ने महाराज की न्याय-सगत बातों को मानने से इन्कार कर दिया है—और महाराज चम्पा के राज्य का त्याग कर वनों की ओर चले गये हैं। सीमा की रक्षा के लिये नियुक्त सैनिकों में से किसी सैनिक के हाथों महाराज ने मन्त्रियों के पास एक समाचार भेजा है—'सन्तानिक की सेना अपार है, उसके साथ युद्ध करने का अर्थ है—चम्पा राज्य की सेना और प्रजा का पूर्ण विनाश—मन्त्रियों, मैं धर्म की महत्ता मे विश्वास करने के कारण युद्ध करने की प्रवृत्ति अपने मन मे नहीं पालता—इसीलिये चम्पापुरी के राज्य को सन्तानिक के हाथों में सौंपकर वनों की ओर जा रहा हूँ। अब तक आप सब मेरी आज्ञा का पालन करते थे—अब से आपका राजा सन्तानिक है।' मगर महारानी जी! राज्य के मन्त्रियों ने महाराज की इस आज्ञा को स्वीकार न कर सन्तानिक के साथ युद्ध करने

होकर अपने धर्म को भूल जाये—और हिंसा, सबसे बड़े पाप की सहायता से—इसीलिये, कि वह अल्पायी और निम्नतम भौतिक सुखों की अपने लिये वृद्धि कर सके। उन्हीं तुच्छ-तुच्छ सुखों को अपना सर्वस्व समझे—और आत्मा के सुख वास्तविक सुख की ओर ध्यान ही न दे।'

'फिर इसलिये वह स्वयं पाप करे—और अपने स्वार्थ की पूर्ति के निमित्त वही पाप दूसरों से भी कराये—उन्हें डराकर अथवा धमकाकर उन्हें लोभ देकर अथवा बहका-कर, उन्हें इस ओर प्रेरित कर अथवा अपने शब्दों के जाल में उन्हें फँसाकर, उन्हें इसीलिये अपने यहाँ नौकर रखकर अथवा उनकी भौतिक आवश्यकता—भूख की पूर्ति करके। तो ऐसा वह व्यक्ति—पुत्री, संसार में पाप को प्रोत्साहन देता है। दानवों में पाप की वृद्धि करता है—और अपने इस कृत्य पर खुश होता है।'

'तो—पुत्री ऐसे उस धर्म से विमुख हुये व्यक्ति को समझना होगा। इस ओर से मोड़ हुई उसकी आत्मा को जगाना होगा। उसे यह बताना होगा—ओ मनुष्य! तुम भूल गये हो। आज जिस रास्ते पर तुम जा रहे हो—वह तुम्हारा मार्ग नहीं है। तुम उस ओर मत जाओ। तुम पीछे लौटो और अपने रास्ते पर आ-जाओ। जो बुद्धि का पारख करने वाले। तुम्हारा मार्ग तो यह है, जो तुम्हें मोक्ष की ओर ले जायगा। तुम पीछे लौटो और अपने मार्ग पर आगे बढ़ो। अपने ज्ञान के प्रकाश में उस अपने पथ पर आगे बढ़ो। तुम्हें मानव का जन्म इसीलिये मिला है कि तुम धर्म-शील

बनो। स्वयं बनो और दूसरों को बनाओ। अपना और दूसरों का कल्याण करो।. अपनी आत्मा में परमात्मा का प्रकाश जगादो—और आत्मा से परमात्मा बन जाओ।'

'और—पुत्री! धर्म-शील, साधु-वृत्ति वाला मनुष्य यही करता है। वह स्वयं धर्म के पथ पर आगे बढ़ता है—और दूसरों को भी उस मार्ग पर आगे बढाता है। अपने कल्याण के साथ-साथ वह सभी का कल्याण करता है। वह सभी '

तभी, एक दासी थर-थर काँपती-सी वहाँ पर पहुँची और कहने लगी—'जीवन का हरण करने वाला समाचार है, महारानी जी! प्राणों की रक्षा करने का प्रश्न उपस्थित हो गया है। सूचना मिली है कि सन्तानिक ने महाराज की न्याय-सगत बातों को मानने से इन्कार कर दिया है—और महाराज चम्पा के राज्य का त्याग कर वनों की ओर चले गये हैं। सीमा की रक्षा के लिये नियुक्त सैनिकों में से किसी सैनिक के हाथों महाराज ने मन्त्रियों के पास एक समाचार भेजा है—'सन्तानिक की सेना अपार है, उसके साथ युद्ध करने का अर्थ है—चम्पा राज्य की सेना और प्रजा का पूर्ण विनाश—मन्त्रियों, मैं धर्म की महत्ता मे विश्वास करने के कारण युद्ध करने की प्रवृत्ति अपने मन मे नहीं पालता—इसीलिये चम्पापुरी के राज्य को सन्तानिक के हाथों में सौंपकर वनों की ओर जा रहा हूँ। अब तक आप सब मेरी आज्ञा का पालन करते थे—अब से आपका राजा सन्तानिक है।' मगर महारानी जी! राज्य के मन्त्रियों ने महाराज की इस आज्ञा को स्वीकार न कर सन्तानिक के साथ युद्ध करने

की आपत्ति करती—दो दोनों देशों की सेना के बीच राजधानी के बाहर भागों में भयंकर युद्ध हो रहा है—और सबसे बाद का समाचार है—चम्पापुरी की सेना शस्त्रों को मोह छोड़कर युद्ध करने पर भी विजय प्राप्त करने में असमर्थ है। उसका पतन किसी क्षण भी सम्भव है।' और इस प्रकार अपने कथन को समाप्त कर दासी मौन हो गई।

और उसी क्षण एक दूसरी दासी तेजी से कमरे में प्रवेश कर कहने लगी—'महारानी जी! सबकुछ समाप्त हो गया। चम्पापुरी की सेना सम्मानिक की सेना के हाथों नष्ट हो गई। अब राजधानी पर सम्मानिक के विजयी सैनिकों का अधिकार है और पुरी में भयंकर मार काट और लूट-मार मची है। किसी भी क्षण मनानिक के विजयी सैनिक राजमहल में प्रवेश कर जायेंगे। राजभवन के रक्षक सैनिक अपने शस्त्रों को मोड़ कर भाग गये हैं। महल अरक्षित है। शीघ्रता कीजिये।'

और दासी बिना आज्ञा प्राप्त किए ही त्वरा से कमरे में से निकल किसी सुरक्षित स्थान की ओर भागी—तो पहिली दासी भी उसके पीछे-पीछे! और धारिणी देख पड़ी—फिर गम्भीर हो गई।

और कुछ ही क्षणों के उपरान्त फिर अविचलित भाव से वह वसुमति से कहने लगी—'पुत्री! धर्म की महत्ता में विश्वास करने के कारण तुम्हारे पिता ने राज्य का त्याग कर दिया है—और वह वनों की ओर चले गये हैं। तुम्हारे मौसा महाराज सम्मानिक के विजयी और विजय के मद से मदान्ध

हुये सैनिक राजधानी को लूटने मे लगे है और पुरी मे भयकर अराजकता चारों ओर फैल गई है। महल के रक्षक सैनिक भी अपने प्राणों से मोह करने के कारण अपने कर्त्तव्य से विमुख हो गये है—वे, राजभवन को अरक्षित छोड़, अपनी सुरक्षा के लिये कहीं जाकर छिप गये है। फिर, राजभवन मे भी किसी भी क्षण महाराज सन्तानिक के विजयान्ध सैनिक पहुँचकर हमारे प्राणों के लिये भी सकट उत्पन्न कर सकते है—और मैं समझती हूँ, यही तुम्हारे स्वप्न का प्रथम भाग है, जो आज इस प्रकार पूरा हो रहा है। जो, आज इस प्रकार सत्य हो रहा है—तो, आज मैं वहुत खुश हूँ—वसुमति।'

'और खुश हूँ—इसलिये—पुत्री, मैं जानती हूँ, पाप की पराकाष्ठा ही धर्म का प्रारम्भ है। तो, चम्पापुरी की तो यह दशा होनी ही थी—नहीं तो पाप अपनी सीमा को किस प्रकार हस्तगत् कर सकता था—और जव वह सीमा के समीप ही न पहुँच पाता—तो, उसका अन्त ही फिर किस प्रकार हो सकता था। तो, पाप जव अपने अन्तिम छोर पर पहुँचने लगता है—तो, उसका रूप महाभयकर हो जाता है—और यही धर्म की दृढता का परीक्षा-काल है। तो, ऐसे समय में धर्म धीरज की वॉह पकड़ता है—और अपने अभिन्न मित्र धीरज के सहारे वह अपनी सत्यता के साथ आगे वढ़ चलता है। और अन्त मे वह विजयी होता है—तो, ससार मे एक वार फिर जीवन की ज्योति जग जाती है—और वह एक वार फिर हॅस पड़ता है।'

'तो पुत्री! धीरज ही धर्म का मित्र है। और धर्म कहता है—आपत्ति के समय मुझे मानने वाले व्यक्ति धैर्य को धारण करते हैं—क्योंकि, धैर्य का त्याग कर देने वाला व्यक्ति मेरा प्रिय नहीं हो सकता—वह मेरा प्यारा नहीं बन सकता। जब विपत्ति की कसौटी पर वह खरा नहीं उतर सकता तो, ऐसा वह आपत्ति के समय घबड़ा जाने वाला मनुष्य संसार में कोई महान् कार्य ही कैसे कर सकता है—तो धर्म उसका त्याग कर देता है—पुत्री! तो धर्म को धारण करने वाले मनुष्य आपत्ति के समय प्रसन्न हुआ करते हैं। वह सोचा करते हैं—ये विपत्तियाँ ही उनकी कसौटी हैं—जब ये आ-पहुँची हैं तो अब वह समय भी दूर नहीं है—जब वे इनके पार जायेंगे और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे। वे अपने उद्देश्य में सफल होंगे—और इतने दिनों की अपनी साधना का फल प्राप्त कर लेंगे।

'तो धर्म के मार्ग में जब तुम्हारे पिता आगे बढ़ गये—तो हम भी फिर पीछे नहीं रह सकते। चम्पापुरी यदि आज धर्म-विरोधियों के द्वारा नष्ट-भ्रष्ट की जा रही है, वह मिटाई जा-रही है—तो इसलिये कि वह फिर बसाई जाये, फिर सजाई जाय—और भी सुन्दर ढंग से और भी सुन्दर रूप में। तो इसलिये मैं चिन्ता का अनुभव नहीं करती। वसुमति मैं तो प्रसन्न हूँ—कि चम्पापुरी मिटाई जा रही है—इसलिये क्योंकि मुझे विश्वास है—मैं जानती हूँ पाप इसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त हुआ करता है। पुत्री! वह किसी को मिटाकर ही स्वयं भी मिटा करता है। और पाप की राख की खाद से

शक्ति प्राप्त कर ही धर्म के अंकुर फूट-पड़ा करते हैं। धर्म पनपा करता है—तो, हँसो पुत्री। चम्पापुरी मिटाई जा-रही है, मगर तुम हँसो पुत्री। हमारे प्राण संकट में हैं, मगर तुम हँसो पुत्री।'

और धारिणी खिलखिलाकर हँस पड़ी—तो, वसुमति भी। और धारिणी का आनन्द द्विगणित हो उठा।

तो, अन्तःपुर का वह वड़ा कमरा गूँज उठा—फिर, उसके दोनों ओर पार्श्व में बने हुये अन्य कक्ष भी। और दाईं ओर के कक्ष में रत्न वटोरता हुआ सन्तानिक का रथी (रथ में सवार होकर युद्ध करने वाला सैनिक) चौंक पड़ा। मा-वेटी की वह सम्मलित हँसी उसे वहुत प्रिय लगी—और वह रत्नों का वटोरना भूल, इकट्ठे किये हुये रत्नों को वहीं पर छोड़, अन्तःपुर के उस वडे कमरे के द्वार पर आकर खडा हो गया। और उसने देखा—प्रथम दृष्टि में हीं हठात् मन का हरण कर लेने वाला वह रूप–विकसता हुआ और खिला हुआ। और रूप की उस पराकाष्ठा को देखकर वह ठगा सा रह गया। तो, कुछ क्षणों तक वह सोच भी न सका कि वह क्या करे। मगर तभी उसका मन उससे कहने लगा—नारी का यह रूप अमोल है, रथी। उन रत्नों से वहुत अधिक मूल्यवान्, वहुत अधिक प्रिय, जिन रत्नों को देखकर मैं पहिले उन पर रीझ गया था—तुम्हारे लोभ के कारण—और अभी-अभी जिन्हें तुम वटोर रहे थे। तो, रथी। मैंने उस समय तक इस रत्न को देखा न था—देखा न था—और मैंने उन्हीं पर सब्र कर लिया था, मगर जब यह सजीव रत्न मुझे दीख पड़ गया

'तो पुत्री ! धीरज ही धर्म का मित्र है। और धर्म कहता है—आपत्ति के समय मुझे मानने वाले व्यक्ति धैर्य को धारण करते हैं—क्योंकि धैर्य का त्याग कर देने वाला व्यक्ति मेरा प्रिय नहीं हो सकता—वह मेरा प्यारा नहीं बन सकता। जब विपत्ति की कसौटी पर वह खरा नहीं उतर सकता तो, ऐसा वह आपत्ति के समय घबरा जाने वाला मनुष्य संसार में कोई महान् काम ही कैसे कर सकता है—तो, धर्म उसका त्याग कर देता है—पुत्री ! तो धर्म को धारण करने वाले मनुष्य आपत्ति के समय प्रसन्न हुआ करते हैं। वह सोचा करते हैं—ये विपत्तियाँ ही उनकी कसौटी हैं—जब ये आ-पहुँची हैं तो अब वह समय भी दूर नहीं है—जब वे इनके पार जावेंगे और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे। वे अपने उद्देश्य में सफल होंगे—और इतने दिनों की अपनी साधना का फल प्राप्त कर लेंगे।

'तो धर्म के मार्ग में जब तुम्हारे पिता आगे बढ़ गये—तो हम भी फिर पीछे नहीं रह सकते। चम्पापुरी यदि आज धर्म-विरोधियों के द्वारा नष्ट-भ्रष्ट की जा रही है, वह मिटाई जा-रही है—तो इसलिये कि वह फिर बसाई जावे फिर सजाई जावे—और भी सुन्दर ढंग से और भी सुन्दर रूप में ! तो इसलिये मैं चिन्ता का अनुभव नहीं करती। बल्कि मैं तो प्रसन्न हूँ—कि चम्पापुरी मिटाई जा रही है—इसलिये क्योंकि मुझे विश्वास है—मैं जानती हूँ पाप इसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त हुआ करता है। पुत्री ! वह किसी को मिटाकर ही स्वयं भी मिटा करता है। और पाप की राख की आग से

सभी को सताता है। प्राण सभी को प्रिय जान पड़ते हैं—तो, वह मृत्यु के भय से डरकर निश्चय ही मेरे वश मे हो जायेगी। मेरी अधीनता को स्वीकार कर लेगी।

और अपने मस्तिष्क मे इस विचार को स्थिर कर उसने अपनी खड्ग म्यान से बाहर निकाल ली—फिर, वह अपने मुख पर क्रोध को बसाये धारिणी के सम्मुख पहुँच कहने लगा—'उठो, और मेरे साथ चलो। तुम्हारा पति दधिवाहन अब इस राज्य का स्वामी नहीं रहा। वह वनों मे जाकर छिप गया है। अब चम्पापुरी के राजा महाराज सन्तानिक हैं—और इस समय उनकी आज्ञा से उनके विजयी सैनिकों के द्वारा समूची नगरी लूटी जा-रही है—तो, चम्पापुरी का आज सबकुछ हमारा है। और विजयी सैनिकों की इस लूट के बीच तुम मेरे हाथों मे पड़ी हो—तो, तुम मेरी हो। तो, मैं कहता हूँ, तुम इसी क्षण उठो और राजमहल के द्वार पर खड़े हुये मेरे रथ मे बैठकर मेरे साथ चलो। मेरी आज्ञा की अवहेलना करने का अर्थ होगा—तुम दोनों की मृत्यु।'

और इस प्रकार धारिणी को आज्ञा देने के उपरान्त रथी चुप हो गया—तो, धारिणी विचारने लगी—इस समय अगर मैं इस दया से हीन सैनिक की आज्ञा नहीं मानती हूँ—तो, यह निश्चय ही मुझे मृत्यु को सौंप देगा। तो, मुझे मरने से तो डर नहीं लगता, मगर इसी समय अगर मैं इसके हाथों से मारी जाती हूँ—और पुत्री वसुमति भी—तो, मेरा कार्य अधूरा रह जाता है. और वसुमति के स्वप्न का शेष-भाग भी अपूर्ण ही रह जायेगा। वह असत्य हो जायेगा। तो, इस समय

है, मुझे दिखलाई दे गया है—तो, मैं तो अब इसी रत्न का लूँगा—मुझे वे निर्जीव रत्न नहीं चाहियें—रथी!

और अपने मन की इस बात को सुनकर वह सोचने लगा—वास्तव में यह मेरा सौभाग्य ही है कि मैं यहाँ पर सबसे पहिले आ पहुँचा हूँ। मेरे साथ के अन्य सैनिकों का अभी तक इस ओर ध्यान ही नहीं गया है। वे अभी तक यहाँ पर नहीं आ पाये हैं। और मेरे सामने बैठी हुई यह स्त्री-रत्न निश्चय ही दधिवाहन की पत्नि है—और यह बालिका उसकी पुत्री! फिर, संसार में ऐसा कौन पुरुष होगा, जो इस रूप पर मुग्ध हुये बिना रह जायेगा। अप्सराओं से भी अधिक सुन्दर इस स्त्री को, ऐसा कौन पुरुष होगा, जो, भोगना अपना सौभाग्य न समझेगा। तो, मेरा मन मुझसे ठीक ही कहता है। तो अपने मन की इच्छा को पूर्ण करने के लिये मैं इस चैतन्य रत्न को अपने अधिकार में निश्चय ही करूँगा। पत्थर के इन टुकड़ों के मुकाबले में यह जीवित माँस-पिंड बहुत अधिक सुन्दर है—बहुत अधिक सुन्दर! तो मैं इसे नहीं त्याग सकता, मैं इसे निश्चय ही प्राप्त करूँगा। मेरा मन मुझसे ठीक ही कहता है। तो उसका आज सत्य है।

मगर सरलता से यह रत्न मुझे नहीं मिल सकता। यह दधिवाहन की पत्नि है—तो चम्पापुरी की महारानी! तो, यह निश्चय ही मेरी इस प्रार्थना को ठुकरा देगी। प्रार्थना करने के कारण यह मुझे कायर समझेगी और मेरा तिरस्कार कर देगी—इसलिये मुझे यही उचित जान पड़ता है कि मैं इसे डराकर ही अपने वश में करूँ। अपने जीवन का मोह

सभी को सताता है। प्राण सभी को प्रिय जान पड़ते हैं—तो, वह मृत्यु के भय से डरकर निश्चय ही मेरे वश मे हो जायेगी। मेरी अधीनता को स्वीकार कर लेगी।

और अपने मस्तिष्क मे इस विचार को स्थिर कर उसने अपनी खड्ग म्यान से बाहर निकाल ली—फिर, वह अपने मुख पर क्रोध को बसाये धारिणी के सम्मुख पहुँच कहने लगा—'उठो, और मेरे साथ चलो। तुम्हारा पति दधिवाहन अब इस राज्य का स्वामी नहीं रहा। वह वनों मे जाकर छिप गया है। अब चम्पापुरी के राजा महाराज सन्तानिक हैं—और इस समय उनकी आज्ञा से उनके विजयी सैनिकों के द्वारा समूची नगरी लूटी जा-रही है—तो, चम्पापुरी का आज सबकुछ हमारा है। और विजयी सैनिकों की इस लूट के बीच तुम मेरे हाथों मे पडी हो—तो, तुम मेरी हो। तो, मैं कहता हूँ, तुम इसी क्षण उठो और राजमहल के द्वार पर खडे हुये मेरे रथ मे बैठकर मेरे साथ चलो। मेरी आज्ञा की अवहेलना करने का अर्थ होगा—तुम दोनों की मृत्यु।'

और इस प्रकार धारिणी को आज्ञा देने के उपरान्त रथी चुप हो गया—तो, धारिणी विचारने लगी—इस समय अगर मैं इस दया से हीन सैनिक की आज्ञा नहीं मानती हूँ—तो, यह निश्चय ही मुझे मृत्यु को सौंप देगा। तो, मुझे मरने से तो डर नहीं लगता, मगर इसी समय अगर मैं इसके हाथों से मारी जाती हूँ—और पुत्री वसुमति भी—तो, मेरा कार्य अधूरा रह जाता है. और वसुमति के स्वप्न का शेष-भाग भी अपूर्ण ही रह जायेगा। वह असत्य हो जायेगा। तो, इस समय

त्याग उसके अस्पष्ट ज्ञान की भी ठीक अर्थों में पूर्ति कर देगा। तो वह उससे बल प्राप्त कर अपने कर्तव्य-पथ पर फिर और भी अधिक दृढ़ता के साथ आगे बढ़ेगी। अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगी—तो, मेरा मनोरथ पूर्ण होगा। धर्म का पग आगे बढ़ेगा।

तो, इस समय यही उचित है कि मैं मौन रह कर इसकी आज्ञा का पालन करूँ।

और यह निश्चय कर धारिणी ने पुत्री की ओर देखा—उस समय मन्द-मन्द मुस्कराती हुई वसुमति माता की ओर एकटक देख रही थी।

और धारिणी चुपचाप उठ कर खड़ी हो गई—तो वसुमति भी! फिर, वे दोनों रथी के आगे-आगे चलीं।

और उस समय रथी का रोम-रोम हँस पड़ा।

त्याग उसका प्रत्यक्ष ज्ञान की भी ठीक अर्थों में पूर्ति कर देगा। तो वह उससे बल प्राप्त कर अपने कर्तव्य-पथ पर फिर और भी अधिक दृढ़ता के साथ आगे बढ़ेगी। अपना लक्ष्य भी प्राप्त कर लेगी—हां, मेरा मनोरथ पूर्ण होगा। धर्म का पग आगे बढ़ेगा।

तो इस समय यही उचित है कि मैं मौन रह कर इसकी आज्ञा का पालन करूँ।

और यह निश्चय कर धारिणी ने पुत्री की ओर देखा—वह उस समय मन्द-मन्द मुस्कराती हुई वसुमति माता की ओर एकटक देख रही थी।

और धारिणी चुपचाप उठ कर खड़ी हो गई—तो, वसुमति भी! फिर, वे दोनों रथ के आगे-आगे चलीं।

और उस समय रथ का रोम-रोम हँस पड़ा।

धारिणी द्वारा प्राण-त्याग

१४

और जब, रथी के आज्ञा देने पर धारिणी पुत्री-सहित निस्संकोच भाव से उसके रथ में बैठ गई—तो, रथी मन ही मन अपने भाग्य की सराहना करता हुआ रथ को आगे बढ़ाने लगा। मगर कुछ ही क़दम आगे बढने पर उसने सोचा—चम्पापुरी की लूट में मेरे हाथ जो माल लगा है, वह अनमोल है और सभी को समान रूप से अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ—तो, जो कोई भी उसे देख पायेगा—वही उसे प्राप्त करने के लिये लालायित हो उठेगा—और मुझ से छीन लेने का प्रयत्न करेगा। इस स्त्री-रत्न को हस्तगत् करने के लिये वह अपने प्राणों का भी मोह न करेगा—और इसे देखते ही तुरन्त मेरा शत्रु बन जायेगा—तो, इस समय राज-मार्ग अथवा जन-मार्ग से होकर आगे बढना मेरे लिये उचित नहीं जान पड़ता। तो, अपने इस बहुमूल्य धन की रक्षा के निमित्त मुझे अलीक को अपना मार्ग बनाना होगा—और जन-रव से दूर मुझे वनों में जाना होगा—और तब, अपने घर।

और अपने मस्तिष्क में इस बात को स्थिर कर रथन अपने रथ को वनों की ओर मोड़ दिया। फिर, वह ऊबड़ खाबड़ अलीक पर सँभल कर आगे बढ़ता हुआ सोचने लगा—उस समय मैंने ठीक ही सोचा था प्राणों का मोह सभी को सताता है। कोई भी मरना नहीं चाहता इसके विपरीत सभी अधिक से अधिक दिनों तक जीवित रहने की ही इच्छा करते हैं। और जीवित रहने के लिए सब-कुछ सह लेते हैं। पुरी-मली सभी बातें! तो, उस समय मैंने ठीक ही सोचा था—और ठीक ही किया भी! अगर मैं नंगी तलवार अपने हाथ में लेकर इसके सम्मुख पहुँच उस तरह की कड़ी आज्ञा इसको न देता—तो यह कभी भी इतनी सरलता से मेरी बात को स्वीकार न करती—और तब, यह सम्भव था कि य क्रोध के वशीभूत होकर इन दोनों के टुकड़े टुकड़े कर देता। और अगर उस समय ऐसा हो जाता—तो अब मेरे पास पछताने के अतिरिक्त और कुछ भी न होता।

तो यह मेरा सौभाग्य है कि उस समय मेरी बुद्धि ने मेरी पूरी-पूरी सहायता की—और इस समय भी—कि मुझे ठीक समय पर यह उपाय सूझ पड़ा। वास्तव में नगरी के बीच में होकर अपना मार्ग बनाने पर यह धन मुझसे अवश्य ही छिन जाता—या मुझे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता—तो, यह भी मेरी बहुत बड़ी मूर्खता होती। मगर अभी तक जब बुद्धि की सहायता से सभी-कुछ ठीक-ठीक हो रहा है—तो आगे भी ठीक ही होगा मुझे विश्वास है—और मैं सुखी हूँ।

और उसकी खुशी की इस लहर का स्पर्श कर उसका मन हँस पड़ा—तो, उस समय उसे ऐसा जान पडा—जैसे उसका भविष्य हँस रहा है—और वह इस खुशी मे डूब सोचने लगा—जब इसका पति इसे अकेली छोड कायर की भांति वनों की ओर भाग गया—तो, यह इसके अतिरिक्त और करती भी क्या ? और सकट के समय में भी ये दोनों इस प्रकार हँस रही थीं—तो, इनकी इस हँसी का अर्थ मैं तो यही समझता हूँ—कि इन्हें विश्वास था—कि इनके इस रूप को देखकर कोई इन्हें मारेगा नहीं—और ये अपने इस विश्वास के कारण ही मृत्यु के भय से मुक्त थीं। फिर, इन्होंने सोच लिया होगा—जो कोई भी इनके सम्मुख पहुंच जायेगा, ये तुरन्त ही उसके हाथों मे स्वयं को सौंप देंगी—तो, इसलिये इन्होंने कहीं छिपने का भी प्रयत्न नहीं किया—इसके विपरीत इन्होंने तो जोर-जोर से हँसकर यह कोशिश की—कि पार्श्व के कक्ष मे अगर कोई आ-पहुँचा हो—तो, इनकी हँसी की आवाज़ को सुनकर इन दोनों की उपस्थिति से अवगत् हो जाये और इनके समीप आ जाये। इनके पास मे जा-पहुँचे। और यह मेरा सौभाग्य था कि मैं ही इन दोनों के सम्मुख पहुँचा।

फिर, यह इन दोनों का भी सौभाग्य ही है कि इनको मुझ-जैसा बुद्धिमान् और सुन्दर युवक प्राप्त हुआ। तो, यह सत्य है कि ये मेरा विस्तृत ललाट, चौड़ा वक्ष-स्थल, लम्बी-लम्बी भुजाओं और सुदृढ शरीर को देखकर मन ही मन प्रसन्न हुई होंगी—और इसलिये इन्होंने अपने-अपने भाग्य को भी

घबराहट होगी। तभी तो ये चुपचाप मेरे साथ उठ खड़ी हुईं—और बिना किसी प्रकार का संकोच किये रथ में आ बैठीं—मानो, ये अपने ही पति के साथ पति-गृह को जा रही हों—और इसमें संकोच की क्या आवश्यकता है!——

और जब इस प्रकार सोचता हुआ रथी आत्म-विभोर हो रहा था—उस समय रथ में बैठी हुई धारिणी पुत्री से बहुत ही धीमे स्वर में कह रही थी—'पुत्री! कायरता मनुष्य के लिये अभिशाप है। वह मनुष्य का मार्ग अवरुद्ध कर देती है। इसलिये कायर मनुष्यों के द्वारा संसार में महान् कार्य नहीं हो पाते—तो महान् कार्य करने वाले मनुष्य वीर ही हुआ करते हैं—और वे वीर कायरता को अपने पास भी नहीं फटकने देते। तो जब तुम्हें अपने स्वप्न का शेष-भाग सत्य सिद्ध करना है—तो, अपने मन में कायरता को कभी स्वप्न भी न आने देना, वसुमति! फिर कभी किसी का सहारा भी न टटोलना—पुत्री! वीर मनुष्य स्वयं-सिद्ध हुआ करते हैं। उन्हें किसी कार्य के करने में कभी भी किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं हुआ करती। वे अपना मार्ग स्वयं आप निकालते हैं। वे अपना कार्य स्वयं कर डालते हैं। तो पिता के वन चले जाने का दुःख तुम न करना—पुत्री! फिर, यह भी सम्भव है कि मैं भी तुम्हारे साथ न रह सकूँ—तो मेरी भी चिन्ता न करना—वसुमति! और अपनी शक्ति की सहायता से तुम स्वयं ही अपने मार्ग पर आगे बढ़ना। धर्म के पथ पर! आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के मार्ग पर! तो यही तुम्हारा स्वावलम्बन होगा—पुत्री! सच्चे अर्थों में!'

और कुछ क्षणों के मौन के पश्चात् वह फिर कहने लगी—'वसुमति! चम्पापुरी तुम्हारी जन्म-भूमि है—और आज वह अविवेकी मनुष्यों के द्वारा लूटी और खसोटी जा-रही है। जिस मिट्टी मे खेल-खेलकर तुम बड़ी हुई हो—वही मिट्टी आज हज़ारों मनुष्यों के रक्त से भींगकर लाल पड गई है—और कुछ ही दिनों के बाद उसका रॅग काला पड़ जायेगा—और यही उस मिट्टी का कलक होगा—पुत्री! और चम्पापुरी तुम्हारी जन्म-भूमि है, वसुमति! तो, चम्पापुरी की मिट्टी के इस कलक को तुम्हें मिटाना होगा। इसे धोकर साफ करना होगा। और यही तुम्हारे स्वप्न का शेष-भाग है, जो, तुम्हें पूरा करना है। जब पुत्री, तुम्हारे स्वप्न का प्रथम अर्द्ध-भाग सत्य हुआ है—तो, उसका अन्तिम भाग भी सत्य होना ही चाहिए—यह मेरी अभिलाषा है। यह मेरी आज्ञा है—पुत्री! और मुझे अपनी अच्छी वसुमति पर विश्वास है कि वह मेरे न रहने पर भी मेरी आज्ञा का पालन करेगी। तब, धीरज ही उसे बल प्रदान करेगा—और वह अविचलित भाव से अपने कर्त्तव्य-पथ पर आगे बढेगी—तो, चम्पापुरी का उद्धार कर-सकने मे समर्थ होगी।'

और वसुमति! चम्पापुरी के उद्धार के लिये तुम्हें अपने सर्वस्व का त्याग कर देना होगा—तो, त्याग की इस पवित्र भावना की तुम अवहेलना न कर देना। जब तुम्हारी महत्ता की कली अनुकूल वायु का स्पर्श कर उमगकर विकसने को तत्पर हो—तो, स्वार्थ के हाथों से उसे मसल न देना—पुत्री! उसे विकसने देना, उसे फलने और फूलने देना—त्याग की

भावना के सहारे, आत्म-संघर्ष की शक्ति पाकर। तो, एक दिन, यह कली जब फूल बनकर हँस पड़ेगी—तो उसकी सुगन्ध से समूचा संसार शान्ति-लाभ करेगा—और चम्पापुरी का कलंक मिट जायेगा। उसका पाप धुल जायेगा—पुत्री!'

'तो अब से तुम्हारा जीवन संघर्षमय होगा। पग-पग पर जीवन की कठिनाइयाँ तुम्हारा मार्ग रोकेंगी। विविध प्रकार के सांसारिक लोभ और मोह तुम्हें अपनी ओर आकर्षित करेंगे। वे तुम्हें रिझायेंगे—और तुम्हारे चित्त को चंचल करने का प्रयत्न करेंगे। उनका रूप सुन्दर होगा और चित-चोर। उनकी सुगन्ध मीठी होगी—और तुम्हें रस से ओत-प्रोत करना चाहेगी मगर तुम उनके अस्थायी रूप, उनकी कल्पित सुगन्ध पर मुग्ध होकर बहक न जाना—पुत्री। तुम मार्ग-च्युत न हो जाना वसुमति!'

'और लोभ और मोह में न फँसना उनकी ओर आकर्षित होने से अपने मन को रोकना—फिर कठिनाइयों से भरे हुये सत्य-पथ पर चलना और अपनी विपत्तियों को धैर्य-पूर्वक सहना—यही तुम्हारी आत्मा का संघर्ष कहलायेगा—पुत्री! और अपने इस संघर्ष को फलीभूत करने के लिये तुम्हें काँटों की राह पर चलना होगा—वसुमति! जो सीधी और साफ न होगी मगर कठिनाइयों से भरी-पूरी और टेढ़ी-मेढ़ी। तो, उस राह पर चलने से तुम घबरा न जाना, पुत्री! अपना साहस न खो देना। बराबर आगे बढ़ना—बढ़ती ही जाना—बढ़ती ही जाना—और..........'

और तव, उस ऊवड़-खावड़ भूमि मे अपना मार्ग वनाता रथी सोच रहा था—इन सुन्दरियों को प्राप्त कर-सकने के कारण मैं तो अव यही समझता हूँ कि चम्पापुरी का यह युद्ध इसीलिये हुआ था कि मेरे भाग्य का उदय हो। अपूर्व लावण्य से युक्त एक साथ ही दो सुन्दरियाँ मुझे मिलें और मैं उनके साथ अपनी मनोकामना पूर्णकर हँसू और मुस्कराऊँ—फिर, जीवन भर सुख भोगूँ। और जव मरने लगूँ—तो, ये रूपसि मेरे लिए आँसू वहायें। अश्रु-मोतियों की लड़ियाँ मेरे ऊपर निछावर करें और मैं कृत्य-कृत्य हो जाऊँ। मैं सन्तोष के साथ अपने प्राणों का त्याग कर सकूँ।

तभी, रथ मे जुते हुये अगले घोड़े के पैर मे ठोकर लगी—और समूचा रथ काँप उठा। रथी सोचते-सोचते ठहर गया, मगर क्षण भर मे ही उस ओर से निश्चिन्त हो वह फिर सोचने लगा—इनमे से एक तो पूर्ण विकसित है और दूसरी विकास को प्राप्त होती हुई कली। ता, कली को तो अभी स्पर्श करना उचित नहीं है, मगर जो अपनी पूर्णता को प्राप्त कर अपने सौरभ की सुगन्ध से मुझे मस्त वना रही है—उसके साथ आज मैं निश्चय ही अपनी मनोकामना पूर्ण करूँगा। और उमगती-विकसती उस कली को भविष्य के लिये मैं सुरक्षित रक्खूँगा—तो, समय आने पर, वह मुझे अपने आलिंगन मे कस, मुझ मे एक वार फिर नया जीवन जगा देगी। मगर पूर्ण यौवन-प्राप्त इस मृग-नयनी को भुजपाश मे आवद्ध कर मैं आज अपनी इच्छा को जरूर पूरी करूँगा। उसके रक्त-वर्ण ओठों मे अमृत भरा है—और मैं उसे पीऊँगा।

उसके कठोर उरोजों का मर्दन कर के और चूमकर अपने मन की अभिलाषा को पूरा कर लूंगा।

और रथी चंचल हो उठा—तो उसने कुछ ही क्षण आगे बढ़ रथ को रोक दिया। फिर, वह रथ से उतर पड़ा और रथ पर पड़े हुये पर्दें उसने हटा दिये। और तब, उस रूप के एक बार फिर दर्शन कर वह स्वयं को धन्य मानने लगा। फिर, वह बोला—'सुन्दरियो! रथ में से उतर सामने दीख-पड़ते वाले उस वृक्ष के नीचे जाकर बैठो। घोड़े अब बहुत थक गये हैं। वे अब और आगे जाने में असमर्थ हैं। तो, तुम निशंक होकर मेरे बताये हुये स्थान पर बैठकर विश्राम करो।

और धारिणी नीचे उतर पड़ी—फिर, वसुमति भी—और तब उस वृक्ष के नीचे जाकर वे बैठ गईं—कुछ सोचती हुई-सी!

तो रथी मन ही मन प्रसन्न होता हुआ सोचने लगा—दोनों के अब तक के व्यवहार से तो यही जान पड़ता है—कि वे मेरे मन की बात को समझ गई हैं—और दोनों ही मुझे पति-रूप में स्वीकार भी करती हैं। तो, अब यह क्षण भी दूर नहीं है, जब मैं पास की किसी झाड़ी के पीछे उस यौवन-प्राप्त सुन्दरी को अपने गले से लगाकर अपने मन की इच्छा को पूर्ण करूँगा।

और इस प्रकार कल्पना के जगत् में भ्रमण करता हुआ रथी धारिणी के समीप पहुँच उससे कहने लगा—'हे सुन्दरी! पूर्णिमा की चन्द्रिका के समान तुम्हारा यह उज्ज्वल और

स्निग्ध रूप मेरे मन को बरबस तुम्हारी ओर आकर्षित कर रहा है। तुम्हारे ये नयनबाण मेरे हृदय को बींधे दे रहे हैं। तुम्हारा उन्नत वक्ष-स्थल मेरे मन में गुदगुदी-सी उत्पन्न कर मेरी वासना को जगा रहा है—तो, मैं चाहता हूँ, तुम्हें अपने भुजपाश में कस, आनन्द के अथाह सागर में डूबता-उभरता इस समय सब-कुछ भूल जाऊँ। तो, मनभावनी तुम मुझे स्वीकार करो। तुम मेरी बन जाओ। मेरी हो जाओ।'

'तुम बुद्धिमती हो, सुन्दरी। तो मैं समझता हूँ, अपनी इस समय की स्थिति से परिचित। इसको समझ सकने में भली-भांति समर्थ। तो, सोचता हूँ, पति के त्याग कर कहीं चले जाने पर तुम्हें इस समय किसी पुरुष के आश्रय की आवश्यकता का अनुभव स्वयं ही हो रहा होगा। किसी संरक्षण को प्राप्त करने की अभिलाषा तुम्हारे मन में जरूर उत्पन्न हो रही होगी—तो, मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर सुमुखि, तुम इस चिन्ता से मुक्त हो जाओ। फिर, मुझे अपने गाढ़ आलिङ्गन में कस मेरे मन की इच्छा को पूर्ण करो।'

और रथी की इन बातों को सुनती हुई धारिणी अपने मन में सोच रही थी—मेरे धीरज, मेरे साहस और विश्वास की परीक्षा का समय, जान पड़ता है, समीप है। बहुत ही समीप! आज तक जिस सत्य के विषय में मैं केवल सुनती ही रही हूँ, आज वह मेरे सम्मुख उपस्थित हो गया है—तो, अब देखना यह है कि मैं अपनी परीक्षा में सफल होती हूँ—अथवा विफल। और मेरी सफलता-असफलता के साथ ही पुत्री वसुमति का भविष्य बँधा है। तो, अपने सतीत्व की रक्षा के

उसके कठोर करांगों का अपने वक्ष से छूकर अपने मन की अभिलाषा को पूर्ण कर दूंगा।

और रथी चंचल हो उठा—तो उसने कुछ ही क़दम आगे बढ़ रथ को रोक दिया। फिर, वह रथ से उतर पड़ा और रथ पर पड़े हुए पर्दे उसने हटा दिये। और तब उस रूप के एक बार फिर दर्शन कर वह स्वयं को धन्य मानने लगा। फिर, वह बोला—'सुन्दरियो! रथ में से उतर सामने दीख-पड़ने वाले उस वृक्ष के नीचे जाकर बैठो। घोड़े अब बहुत थक गये हैं। वे अब और आगे जाने में असमर्थ हैं। तो, तुम निशंक होकर मेरे बताये हुये स्थान पर बैठकर विश्राम करो।'

और धारिणी नीचे उतर पड़ी—फिर, वसुमति भी—और तब उस वृक्ष के नीचे जाकर वे बैठ गई—कुछ सोचती हुई-सी।

तो रथी मन ही मन प्रसन्न होता हुआ सोचने लगा—दोनों के अब तक के व्यवहार से तो यही जान पड़ता है—कि वे मेरे मन की बात को समझ गई हैं—और दोनों ही मुझे पति-रूप में स्वीकार भी करती हैं। तो, अब वह क्षण भी दूर नहीं है, जब मैं पास की किसी झाड़ी के पीछे उस यौवन-प्राप्त सुन्दरी को अपने गले से लगाकर अपने मन की इच्छा को पूर्ण करूँगा।

और इस प्रकार कल्पना के जगत् में भ्रमण करता हुआ रथी धारिणी के समीप पहुँच उससे कहने लगा—'हे सुन्दरी! पूर्णिमा की चन्द्रिका के समान तुम्हारा यह उज्ज्वल और

और धारिणी के इन शब्दों को सुनकर रथी अचकचा-सा गया। धारिणी से इस प्रकार के उत्तर की तो उसे स्वप्न मे भी आशा न थी। तो, उसकी इस वात को सुनकर उसे ऐसा जान पड़ा—जैसे किसी ने वलपूर्वक उसे आकाश से पृथ्वी पर गिरा दिया है—और कुछ क्षणों तक वह कुछ सोच भी न सका। मगर तभी काम के वशीभूत हुआ उसका मन उससे कहने लगा—पागल मत वनो—रथी! अगर इसकी वातों मे आ गये तो मैं सौ-टूक हो जाऊँगा। इसकी छलना मे छले गये तो तुम्हारा सौभाग्य दुर्भाग्य मे वदल जायेगा। अव तक किया गया तुम्हारा प्रयत्न निष्फल हो जायेगा। तो, पागल मत वनो, रथी! और मेरी इच्छा को पूर्ण करो।

और अपने मन की इस वात को सुनकर वह धारिणी से कहने लगा—"मैं तुम्हारे अभिप्राय को भली प्रकार से समझ गया—सुन्दरी! मगर इस प्रकार की चिन्ता करना तुम्हारा व्यर्थ है। तो, तुम विश्वास करो—सुमुखि! मैं प्रतिज्ञा कर तुमसे कह रहा हूँ—तुम्हारी प्रत्येक इच्छा को मैं निश्चय ही पूरी करूँगा। तुमको प्रसन्न करने के लिये मैं हँसते-हँसते अपने प्राणों का भी त्याग कर सकता हूँ—तो, फिर पत्नि की तो वात ही क्या है। मैं तो तुम्हारा आज्ञाकारी सेवक वनकर रहूँगा, रूपसि! फिर, मैं शपथ-पूर्वक तुमसे कहता हूँ—मेरी सम्पदा की तुम एक-मात्र स्वामिनी होगी। मेरा जो-कुछ भी है—वह सव-कुछ तुम्हारा होगा—केवल तुम्हारा—प्रिये! तो, मेरी इस वात पर तुम विश्वास करो—और मुझे अपनाकर अपना सेवक वनालो। मैं तुम जैसी वुद्धिमती और अपूर्व

किये भाव मुझे अपने प्राणों का त्याग करना ही होगा। वे इस समय मरना मुझे रुचिकर जान पड़ता है। पुत्री से मैं यह कहना चाहती थी—वह कह चुकी—और मैं इस ओर सन्मुख हूँ। मगर एक कार्य करना अभी शेष है। अपने इस मूढ़ भाई को समझाना मैं अपना कर्त्तव्य समझती हूँ। भ्रम-वश भूल गया है—तो मुझे प्रयत्न कर इसे सत्य-पथ पर लाना ही चाहिये। फिर, इसको अगर मैं समझा सकी—तो मुझे अपने प्राणों का त्याग करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। तो अपने इस भूले-भटके भाई को मैं समझाऊँगी।

और अपने मन में यह निश्चय कर वह बहुत ही शान्त भाव से रथी से कहने लगी—हे भाई। तुम वीर हो—और तुम्हारे इस वीर-वेष का देखकर तुम्हारी बहिन धारिणी तुम से यह आशा करती है कि तुम अपने प्राण—अपने जीवन को संकट में डालकर अपनी इस बहिन की उसकी पुत्री-सहित रक्षा करोगे। तभी तुम्हारी आज्ञा को अपने शीश पर धारण कर चुपचाप मैं और मेरी पुत्री वसुमति तुम्हारे साथ चल कर यहाँ तक आ पहुँची हैं और इतनी दूर चले आने पर अब मैं समझती हूँ, यहाँ से तुम्हारा घर बहुत ही समीप होगा। फिर घर पर भाभी भी तुम्हारे लौटने की इच्छा को अपने मन में बसाये उत्कंठा के साथ तुम्हारी बाट जोह रही होंगी। और भाई! मैं इस शुभ घड़ी के इन्तजार में विकल हूँ, जब मुझे अपनी अच्छी भाभी के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। और पुत्री वसुमति भी अपनी मामी के पास शीघ्रातिशीघ्र पहुँचने की इच्छुक है—तो भाई! त्वरा के साथ घर पहुँचो और हम दोनों की इच्छा को पूर्ण करो।

और धारिणी के इन शब्दों को सुनकर रथी अचकचा-सा गया। धारिणी से इस प्रकार के उत्तर की तो उसे स्वप्न मे भी आशा न थी। तो, उसकी इस बात को सुनकर उसे ऐसा जान पड़ा—जैसे किसी ने बलपूर्वक उसे आकाश से पृथ्वी पर गिरा दिया है—और कुछ क्षणों तक वह कुछ सोच भी न सका। मगर तभी काम के वशीभूत हुआ उसका मन उससे कहने लगा—पागल मत बनो—रथी! अगर इसकी बातों मे आ गये तो मैं सौ-टूक हो जाऊँगा। इसकी छलना मे छले गये तो तुम्हारा सौभाग्य दुर्भाग्य मे बदल जायेगा। अब तक किया गया तुम्हारा प्रयत्न निष्फल हो जायेगा। तो, पागल मत बनो, रथी! और मेरी इच्छा को पूर्ण करो।

और अपने मन की इस बात को सुनकर वह धारिणी से कहने लगा—"मैं तुम्हारे अभिप्राय को भली प्रकार से समझ गया—सुन्दरी! मगर इस प्रकार की चिन्ता करना तुम्हारा व्यर्थ है। तो, तुम विश्वास करो—सुमुखि! मैं प्रतिज्ञा कर तुमसे कह रहा हूँ—तुम्हारी प्रत्येक इच्छा को मैं निश्चय ही पूरी करूँगा। तुमको प्रसन्न करने के लिये मैं हँसते-हँसते अपने प्राणों का भी त्याग कर सकता हूँ—तो, फिर पत्नि की तो बात ही क्या है। मैं तो तुम्हारा आज्ञाकारी सेवक बनकर रहूँगा, रुपसि! फिर, मैं शपथ-पूर्वक तुमसे कहता हूँ—मेरी सम्पदा की तुम एक-मात्र स्वामिनी होगी। मेरा जो-कुछ भी है—वह सब-कुछ तुम्हारा होगा—केवल तुम्हारा—प्रिये! तो, मेरी इस बात पर तुम विश्वास करो—और मुझे अपनाकर अपना सेवक बनालो। मैं तुम जैसी बुद्धिमती और अपूर्व

सुन्दरी का सेवक बनने में भी अपना गौरव अनुभव करता हूँ—तो तुम मेरी स्वामिनी बनो—और मेरे जीवन में रस की धार बहा दो। मुझे अपना बनाओ—और इस जीवन का सच्चा सुख मुझे प्राप्त करने दो।'

अपने इस कथन को समाप्त कर रथी जैसे ही मौन हुआ—वैसे ही धारिणी उससे कहने लगी—'तुम नश्वर इस रूप के भ्रम में पड़कर अपने मार्ग से भटक गये हो, भाई! नारी का यह रूप पुरुष के लिये एक छलना है,—तो मैं कहती हूँ तुम उस छलना में फँसने का प्रयत्न न करो—और अपने कर्तव्य—अपने धर्म का पालन कर इस जीवन और आत्मा के सच्चे सुख को प्राप्त करो। वासना के इस क्षेत्र में जो तुम भूल से सच्चे सुख की खोज में भ्रम हो—तो, यह तुम्हारा भ्रम है। यहाँ पर वास्तविक सुख का तो लेश भी नहीं। यहाँ तो मनुष्य का सुख छीना जाता है—और वह भी उसे बुद्धिमान् से बुद्धिहीन बना कर। तो भाई! तुम बुद्धिहीन न बनो—और स्वयं को पहिचानो।'

'फिर मेरी बातों का गलत अर्थ लगाने की भी कोशिश न करो। नारी अपने जीवन में केवल एक ही पुरुष को अपना सर्वस्व अर्पण करती है—और तब जीवन-पर्यन्त वह केवल उसी पुरुष की बनती है। केवल उसी की पूजा करती है। तो मैं तुमसे यह सत्य ही कह रही हूँ कि मैं महाराज दधिवाहन के अतिरिक्त पति-रूप में किसी अन्य पुरुष की कल्पना कभी स्वप्न में भी नहीं करती। तो तुम्हारी यह आशा निरर्थक है। तुम्हारा प्रयत्न व्यर्थ है।'

'तो, तुम अपनी बुद्धि की अवहेलना न करो, भाई। और वासना की छलनामय माया में भी न फँसो। फिर, जीवन के, आत्मा के सच्चे सुख को प्राप्त करने के हेतु तुम धर्म के पथ पर आगे बढ़ो—और ससार मे अपनी कीर्त्ति की अखण्ड ज्योति जगा दो, जो कभी न बुझे, कभी न बुझे—तो, अपने अमिट आलोक की सहायता से ससार को मार्ग-दर्शन कराती रहे। उसको उसका मार्ग बताती रहे। सच्चा मार्ग! आत्मा के कल्याण का मार्ग।'

और धारिणी के इन शब्दों को सुनकर रथी खीज उठा। उसने सोचा—भय के बिना प्रीति नहीं हुआ करती—तो, इसे जब तक मैं एक बार फिर भय-त्रस्त नहीं करूँगा, तब तक यह मेरी बात को स्वीकार नहीं करेगी। मेरी बात को नहीं मानेगी। तो, इससे कोमल शब्दों मे प्रार्थना करना व्यर्थ है। और तब, वह चीखकर कहने लगा—'व्यर्थ की इस बकवास को तुम बन्द करो। मैं तुम्हारे इस निरर्थक प्रलाप को और अधिक नहीं सुनना चाहता। अगर तुम्हें अपना जीवन प्रिय लगता है—तो, उस कायर दधिवाहन को तुम भूल जाओ—और उसके स्थान पर अपने हृदय मे मुझे बिठाओ। मैं केवल इतना ही चाहता हूँ—इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। और समझलो—अगर तुमने मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया—तो, अपनी इस खड्ग की सहायता से मैं अभी अभी तुम्हारे टुकडे-टुकडे कर दूँगा। इस भयानक वन में तुम्हारी रक्षा के लिये कोई भी नहीं है—तो, मेरे हाथों से मरने की इच्छा न करो, धारिणी।' और तब, उसने अपनी तलवार को म्यान से बाहर खींच लिया।

मगर धारिणी अपने मुख पर सतीत्व के ओज को धारण कर बोली—'मुझे अपना धर्म अधिक प्रिय है, रथी! उसकी रक्षा के लिये मैं अपने प्राणों का सहज ही में त्याग कर सकती हूँ। तुम अगर भूलने में ही अपने जीवन की महत्ता समझते हो—तो मैं अपने धर्म की रक्षा करने में—और तुम्हारा यह प्रस्ताव मुझे अन्तिम रूप से अस्वीकार है। तुम मेरे केवल भाई बनकर ही रह सकते हो—तुम्हारे प्रति अन्य कोई भाव मेरे मन में स्थान नहीं पा सकता।'

और रथी से इस प्रकार कहने के उपरान्त उसने वसुमति की ओर देखा—और पुत्री के नेत्रों में अपूर्व शान्ति के दर्शन कर वह सन्तुष्ट हो गई। मन ही मन उसने अपने भाग्य की सराहना की—और वह प्रसन्नता के कारण खिल-सी उठी।

और उसके इन शब्दों को सुनकर रथी का क्रोध आगे बढ़ा। उसने सोचा—आज संसार की कोई भी शक्ति मुझे अपनी इच्छा की पूर्ति करने से नहीं रोक सकती। काम के वशीभूत हुआ मैं अब और अधिक विलम्ब सहन नहीं कर सकता—तो मैं इसकी इच्छा से न सही अनिच्छा से इसके साथ भोग करूँगा। और यह सोचकर वह धारिणी को पकड़ कर पकड़ लेने के लिये उसकी ओर बढ़ा—और तभी उसने देखा—धारिणी का निर्जीव शरीर पृथ्वी पर लुढ़क गया है। उसने अपने हाथ से अपनी जिह्वा को खींच कर अपने प्राणों का त्याग कर दिया है। उसके मुख से रक्त की धारा फूट निकली है। उसके प्राण-पखेरू उसके शरीर में से निकल अनन्त आकाश में उड़ गये हैं।

और यह देखकर वह अचम्भे मे डूब ठगा-सा खड़ा रह गया। फिर, धारिणी के मृत शरीर की ओर एकटक देखता हुआ वह सोचने लगा—कुछ ही क्षणों पूर्व काम के मद मे भरा हुआ मैं विचार रहा था—कि संसार की कोई भी शक्ति आज मुझे अपनी इच्छा की पूर्ति करने से नहीं रोक सकती। मैं आज निश्चय ही इसके साथ भोग कर अपनी काम-पिपासा को शान्त करूँगा। मगर यह मेरा भ्रम था। उस समय काम की तीव्र इच्छा ने मेरी बुद्धि का हरण कर लिया था—और मैं समझ यह रहा था कि मेरी बुद्धि मेरा साथ दे रही है—इसीलिये, इस सती नारी के सत्य परामर्श पर मैंने ध्यान ही न दिया। मैंने इसकी बातों पर विश्वास ही न किया। तो, बराबर इसके वचनों की अवहेलना ही करता चला गया—और जब काम मे अन्धा हुआ मैं बलात्कार के लिये इसकी ओर बढ़ा—तो, पतिव्रता की शक्ति ने मुझे अपने समीप तक पहुँचने भी न दिया—उसने इतनी दूरी पर ही मुझे पराजित कर दिया।

फिर, मुझे मेरी ही नजरों मे गिरा भी दिया। युद्ध स्थल मे अपने विपक्षी योद्धा को मारकर मैं गौरव का अनुभव किया करता था। मगर आज इस सती नारी की मृत्यु का कारण बनकर मैं अपनी ही दृष्टि मे बहुत नीचे गिर गया हूँ—तो, संसार मुझे अब धिक्कार के योग्य समझेगा। अब तक वह मुझे वीर कहकर मेरा सम्मान किया करता था, मगर अब वही मेरे मुँह पर घृणा से थूकेगा। और अब मैं पापी हूँ—एक पतिव्रता नारी के जीवन का हरण करने वाला—महापातकी।

और वह अपने ही प्रति ग्लानि से भर उठा। फिर, गर्व से वह गड़-सा गया। मगर उसके विचार आगे बढ़े—और वह मुख नीचा किये सोचता ही चला गया। न जाने, और क्या-क्या!

उधर वसुमति ऐसी आदर्श नारी के गर्भ से जन्म लेने के कारण अपने मन में गौरव का अनुभव कर रही थी।

पिता रथी और पुत्री वसुमति

१५

औरतब,

माता के शव से दो-चार क़दम की दूरी पर खड़ी हुई वसुमति सोचने लगी—माता ने आज तक जो-कुछ भी मुझसे कहा था—उसे आज प्रत्यक्ष भी कर दिखाया। माता ने मुझसे कहा था—'वसुमति आपत्तियाँ आने पर मनुष्य को धैर्य का त्याग नहीं करना चाहिये।' और मैंने देखा—चम्पापुरी पर आक्रमण की बात सुनकर, शत्रु महाराज सन्तानिक के पास पिताजी के पहुँचने की सूचना पाकर, फिर, उनके वन-गमन, चम्पापुरी के भीषण हत्याकाण्ड तथा शत्रु-सैनिक इस रथी के पास मे आ-पहुँचने के कारण और इसके द्वारा गमन की आज्ञा मिलने पर माता ने धीरज का त्याग नहीं किया। और प्राण-त्याग के समय भी वह घबड़ाई नहीं। फिर, रथी के अधार्मिक बोलों को भी उसने बहुत ही शान्तभाव से ग्रहण किया—और क्रोध को उसने अपने समीप में भी न आने दिया। इसके विपरीत रथी को उसने सुधारने की कोशिश

की—और उसके समझाने पर भी जब यह न माना बलात्कार की भावना से आगे बढ़ा—तो, अपने सतीत्व की रक्षा का और कोई उपाय न देखकर, उसने अपने प्राणों का त्याग कर दिया।

और यह सोचकर वसुमति, माता के प्रति अपार श्रद्धा से भर उठी। तो उसको अपनी श्रद्धाञ्जली अर्पित करती हुई वह मन ही मन कहने लगी—हे माता! हे पूजनीय मा! तू धन्य है! तूने जो कुछ भी अब तक मुझे बतलाया—वह मेरे सम्मुख चरितार्थ भी कर दिया। अपने धर्म के लिये जीकर मुझे तूने जीना सिखलाया—और धर्म के लिये मर कर मुझे मरना भी सिखला दिया। तो मैं तेरी ही कृपा से इस समय इस महा कठिन अवसर पर दुःख, शोक और भय से रहित हूँ। तेरे धनमोल बोलों के कारण ही तेरे लिये और अपने जीवन के प्रति मुझे लाभ और मोह नहीं सता रहे हैं—और इन क्षणों में मैं तेरी ही कृपा से एक अनिर्वचनीय शान्ति का अनुभव कर प्रसन्न हो रही हूँ। तूने धर्म के लिये मेरे सम्मुख अपने प्राणों का त्याग कर मुझे असीम बल, अपरिमित धीरज और अनोखे सत्व से भर-सा दिया है—और माता, मैं धर्म का साक्षी कर तुझसे यह बात कह रही हूँ—तू विश्वास कर तेरी यह पुत्री तेरे ही द्वारा बतलाये और सिखलाये मार्ग पर आगे बढ़ेगी। तू विश्वास कर—मा! वसुमति तेरी ही आज्ञा का पालन करेगी।

और अपनी अच्छी मा को मन ही मन श्रद्धाञ्जली भेंट कर फिर वसुमति सोचने लगी—यह रथी सैनिक है—तो

मनुष्यों को मरते हुये तो यह रोज ही देखता होगा—फिर, उनको मारने मे भी यह अपनी वीरता समझता होगा—और अपने प्रति गौरव का अनुभव करता होगा—तो, सम्भव है, मा के प्राणोत्सर्ग का इस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा हो—क्योंकि, मनुष्य का मर जाना तो उसके लिये एक सामान्य-सी घटना है। तो, इसलिये उसे क्या दुख हो सकता है। फिर, काम मे वह भरा हुआ है—तो, इस समय उसकी बुद्धि नष्ट हो गई है। उसका ज्ञान लोप हो गया है। तो, जब मा के अमृत भरे उपदेश का ही उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा—तो, मेरी ही बातों का उस पर क्या असर हो सकता है। तो, उसे समझाने के लिये उससे कुछ भी कहना व्यर्थ ही है। फिर, यह शीघ्र ही अपनी काम-वासना को तृप्त करने के लिये मुझसे भी इसी प्रकार की बातें जरूर करेगा—तो, इसे अवसर देने से पूर्व ही मुझे भी मा के पथ का अनुसरण कर अपने प्राणों का त्याग कर देना चाहिये।

और अपनी इस बात को अपने मन मे स्थिर कर किंकर्त्तव्य-विमूढ से खड़े हुये रथी से वसुमति कहने लगी—'हे वीर! मेरे कारण तुम्हें किसी प्रकार की चिन्ता न करनी पड़े—यही सोचकर मैं भी माता के द्वारा निर्धारित किये मार्ग से उसी ओर जा रही हूँ, जिस ओर माता गई है।' और वह मरने के लिये उद्यत हो गई।

मगर वसुमति के इन शब्दों को सुनकर रथी चौंक पड़ा—फिर, वह रो उठा। और उसने दौड़कर मरने का प्रयत्न करती हुई वसुमति के हाथ को पकड़ लिया। फिर, पश्चाताप

वे अपने आँसुओं को भूमि पर गिराता हुआ वह वसुमति से कहने लगा—'पुत्री ! मुझ पापी को क्षमा करो । मैं महा पातकी हूँ, मुझे क्षमा करो, बेटी ! तुम्हारी माता के बलिदान ने मेरी आँखें खोल दी हैं—अब तुम भी मरकर मेरे पापों की गठरी को और अधिक भारी न करो, पुत्री ! इस समय मैं पश्चाताप की भीषण ज्वाला से जला जा रहा हूँ—वसुमति ! तो, संताप की इस ज्वाला से तुम मेरी रक्षा करो—पुत्री ! मेरे शीश पर अनेक पापों का बहुत भारी बोझ लदा है—बेटी, तो उस बोझ को और अधिक भारी न बनाओ—वसुमति ! मुझे तुम अपनी शरण में लो बेटी !'

और एक क्षण मौन रहने के पश्चात् वह फिर कहने लगा—'तुम्हारी माता के बलिदान ने मेरे मन से अज्ञान के अंधकार को बहुत दूर हटा दिया है पुत्री ! तो, उस सती की कृपा से मुझे ज्ञान का आलोक मिल गया है—और अब मैं सभी-कुछ बहुत स्पष्ट देख-पाता हूँ, बेटी ! बहुत स्पष्ट ! तो, कुछ ही क्षणों पूर्व के रथी को अब तुम हमेशा के लिये भूल जाओ । वह रथी मर गया है । तो सती धारिणी के प्रताप से निर्मित हुये इस रथी का तुम विश्वास करो । तुम्हारे सम्मुख खड़ा हुआ यह रथी अब सत्य के बहुत समीप है—और ऐसा यह रथी सत्य और अपने पवित्र धर्म की सौगंध खाकर कहता है—कि यह तुम्हारा पिता है, और तुम उसकी पुत्री ! तो अपने मन से तुम भय को निकाल दो—पुत्री ! और अपने धर्म-पिता का पाप-बोझ कम करने के लिए उसे अपनी शरण में लो—पुत्री ।

और अपने इन शब्दों को समाप्त कर रथी वसुमति के चरणों में गिर पड़ा। वह अभी भी रो रहा था।

और उसकी ऐसी दशा देख वसुमति का हृदय करुणा से भर उठा। फिर, उसका विश्वास उससे बोला—वसुमति! इसकी बातों को तुम सत्य समझो। इसका यह कथन अक्षरश सत्य है। तुम्हारी मा का बलिदान खाली नहीं गया है—उसने इसके हृदय के मैल को धो-डाला है। तो, वसुमति! तुम इसे अपना धर्म पिता मानकर इसका सत्कार करो।

और अपने विश्वास की इस बात को सुन वसुमति चौंक कर दो कदम पीछे हट गई—उसे अब यह अनुचित जान पड़ा कि वह पिता-तुल्य रथी से अपने पैरों का और अधिक स्पर्श कराये। फिर, वह उसका पिता के समान आदर कर उससे कहने लगी—'हे आदरणीय! उठिये। इस रूप में आपका सम्मान करते हुए मैं अपार आनन्द का अनुभव कर रही हूँ। हे पिताजी! अब आप अपने शोक का परित्याग कर स्वस्थ-मन हो जाइये—और अपने कर्त्तव्य की ओर ध्यान दीजिये। माता ने मुझे आपके हाथों में सौंपा है—तो, अब आप मेरी रक्षा का भार अपने ऊपर लीजिये। आप मेरे धर्म-पिता हैं और मैं आपकी धर्म-पुत्री! तो, जो-कुछ होना था, वह हो चुका—उसे आप भूल जाइये। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मुझे अपनी माता के मरने का बिल्कुल भी दुःख नहीं है—क्योंकि वह अपने धर्म की प्रतिष्ठा को गौरवान्वित करने के लिये ही मृत्यु को प्राप्त हुई है। फिर, मुझे किसी प्रकार का भय भी नहीं सता रहा है—क्योंकि मुझे विश्वास है कि

मैं अपने धर्म-पिता के हाथों में सुरक्षित हूँ। तो, अब आप पश्चाताप छोड़ माता के शव की अन्त्येष्टि का प्रबन्ध कीजिये। मुझे आज्ञा दीजिए, पिताजी! इसलिये मैं कौनसा कार्य करूँ ?' और यह कहकर वह चुप होगई।

और वसुमति के इन शब्दों को सुनकर रथी आश्चर्य-चकित रह गया। वह उठकर खड़ा हुआ तो उसने देखा—पुत्री वसुमति के मुख पर एक अपूर्व शान्ति विराज रही है। और यह देखकर वह आनन्द में भर सोचने लगा—ओह! मेरी पुत्री का धैर्य अनोखा है। इसके मन की पवित्रता अपरिमित है। फिर, यह अवस्था में इतनी छोटी होते हुये भी कितनी बुद्धिमती कितनी सरल और कितनी सात्विक है कि इसके मन में मुझ जाड़-पापी के प्रति तनिक भी रोष नहीं है—तो, मैं समझता हूँ यह अपनी अच्छी मा की बहुत अच्छी बेटी है—और मैं इसे पुत्री-रूप में प्राप्त कर धन्य हो गया। मैं आज सबकुछ पा-गया।

फिर कुछ ही क्षणों के उपरान्त जब—

वसी वन में से रथी और पुत्री वसुमति के द्वारा बटोरी गई सूखी लकड़ियों की बनी चिता पर पवित्र और सती धारिणी का शव चिता की अग्नि को महण कर भस्म होने लगा—तो रथी अधीर हो उठा! फिर जोर-जोर से विलाप करता हुआ वह धीरज-मना पुत्री वसुमति से कहने लगा—"मैं महापातकी हूँ पुत्री! इस सती की मृत्यु का कारण मैं ही हूँ। तुम्हारी पवित्र माता का हत्यारा मैं ही हूँ। मेरे ही पाप भरे विचारों के कारण इस सती को अपने प्राणों का त्याग

करना पड़ा—तो, मैं महापातकी हूँ, पुत्री ! तो, अब मैं यही उचित समझता हूँ—कि मैं भी इस सती की चिता की पवित्र अग्नि मे जलकर अपने इस अपवित्र शरीर का त्याग करदूं—और अपने पापों से मुक्त हो जाऊँ।' और यह कहकर वह चिता की ओर बढ़ा।

मगर तभी, दुख और शोक से रहित, धर्म-शीला वसुमति उसे रोककर उससे कहने लगी—'पिताजी ! आप यह क्या कर रहे हैं। आपने तो अभी-अभी मुझसे कहा था—'पापी-हृदय रथी मर चुका, पुत्री !' फिर, पिताजी ! पाप से रहित हुये आप क्यों मरने की इच्छा करते हैं। गहरे पश्चाताप की प्रचण्ड ज्वाला में पड़कर आपका पाप तो भस्म हो गया, पिताजी ! और अगर आप समझते हैं कि उसका कोई अंश आपमे अभी भी विद्यमान् है—तो, वह इस प्रकार समाप्त नहीं हो-सकता। इस प्रकार तो आप अपने पाप की वृद्धि ही करेंगे, जिससे आपको संसार मे बार-बार जन्म ग्रहण करना पडेगा—तो, ऐसा न कीजिये, पिताजी ! अपने पापों को समाप्त कर देने का यह धर्मानुकूल और उचित उपाय नहीं है, पिताजी ! इस संसार मे अनेकों दीन और दुखी हैं, सदाचार पूर्वक उनकी सेवा करना ही, स्वयं को पाप से मुक्त कर लेना है। तो, पिताजी ! जीवन को धारण कीजिये—और लोक-कल्याण के द्वारा अपने शेष पापों का शमन ! तो, इस उत्तम उपाय की सहायता से आप पाप-मुक्त होकर जन्म-मरण के बन्धन से निश्चय ही मुक्त हो जायेंगे। आप आत्मा से परमात्मा हो जायेंगे।'

और तब रथी को ऐसा जान पड़ा, जैसे अपनी पवित्र हृदया पुत्री वसुमति की कृपा से उस सन्मार्ग का पता मिल गया है, और अब वह अपने हृदय में सुख और शान्ति का अनुभव कर-सा रहा है। और तभी उसने देखा—धर्मपत्नी की निर्जीव देह लपटों की चपेट में आकर अपना अस्तित्व खो-चुकी है। अग्नि की खूब ऊँची उठती हुई लपटें सिमट कर स्वयं में ही विलीन होती जा रही हैं। और चिता में भी केवल अब उसके भाव की धूमिल चमक-दमक शेष है। और वसुमति से वह बोला—'अपने जीवन का दान कर सती तुम्हारी माता पुत्री! मुझे पशु से मनुष्य बना गई। मुझे सत्य के पथ का पथिक बना गई—और मैं आज तुम्हारे सम्मुख सती की इस चिता की सौगन्ध खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ—कि मैं जीवन-पर्यन्त उसके बताये मार्ग पर ही चला करूँगा। अपनी अच्छी बेटी वसुमति की सहायता से! और अब मैं बहुत खुश हूँ। बहुत खुश।

और अन्त में वह बोला—'तो चलो बेटी! अपने घर चलो। और वह उठकर पास ही में खड़े हुये अपने रथ की ओर बढ़ा। और वसुमति उसके पीछे-पीछे।

और दूसरे दिन

मार्ग में पिता का धर्म की बातों से मन बहलाती हुई वसुमति जब रथी के घर पर जा-पहुँची और घर के सामने पहुँचकर रथ रुक गया—तो वह प्रसन्नता से खिल-सी उठी। और वह रथ में से उतर घर के द्वार की ओर ऐसे भाव से चली—जैसे वह बहुत दिनों तक कहीं रहकर अपने घर लौटी

हो। फिर, पति के स्वागत् के निमित्त घर के द्वार पर खड़ी हुई रथी-पत्नि को उसने प्रणाम किया—तो, उसको आशीर्वाद दे साश्चर्य रथी-पत्नि ने उससे पूछा—'तुम किसकी कन्या हो—और यहाँ पर किसलिये आई हो?'

और उसके इस प्रश्न के उत्तर में वसुमति ने बहुत ही शान्त-भाव से उससे कहा—'माता! मैं आप ही की कन्या हूँ। आपकी सेवा करने के लिये मैं अपने घर आई हूँ। अब आपको किसी भी प्रकार का कोई कष्ट न होने दूँगी—घर के सभी काम मैं कर लिया करूँगी।'

तभी, रथी उनके समीप पहुँचकर अपनी पत्नि से कहने लगा—'सन्तान के बिना घर बहुत ही सूना-सूना-सा लगा करता था—तो, घर की इस कमी को दूर करने के लिये मैं इस कन्या को अपने साथ लाया हूँ। देखो, ज़रा ध्यान रखना, हमारी लाड़ली बेटी को कोई कष्ट न हो। हमारा ऐसा भाग्य कहाँ था, जो, ऐसी बुद्धिमती और सुशील कन्या हमारे घर में जन्म लेती, मगर अब आकर हमारा कोई पुण्य उदय हो गया जान पड़ता है, जो, भाग्यवश हमें ऐसी पुत्री प्राप्त हो गई है। यह हमारे घर में आई—तो, इस कन्या का तो यह दुर्भाग्य ही है, मगर मैं इसे अपना सौभाग्य ही समझता हूँ। तो, पुत्री के खान-पान की व्यवस्था तनिक ठीक रखना, जिससे माता-पिता के घर पर ही उसे कोई कष्ट न हो—और वह अपने ही घर पर दुख का अनुभव करने लगे।'

और अपनी पत्नि से इस प्रकार कहने के उपरान्त रथी रथ लेकर रथ-शाला की ओर चला गया। तो, रथी-पत्नि मन

और यह सोचकर वह मन ही मन स्वयं से कहने लगी—धीरज धरो, वसुमति! अब यही होगा।

और वह सन्तुष्ट थी।

फिर, कुछ ही वर्षों के उपरान्त

रथी के घर के भीतर आँगन में बैठी हुई, रूखा-सूखा भोजन कर, वह आनन्द-मग्न हो रही थी।

वसुमति द्वारा कार्यारम्भ

ही मन विचारने लगी—मैं तो समझ रही थी कि चम्पापुरी की लूट के धन से धाम घर भर जायेगा। जब सामान्य से सामान्य सैनिक भी चम्पापुरी से अपार धन लेकर अपने घर लौटा है—तो यह तो रथी हैं—तो, यह तो उस सैनिक से कहीं अधिक, कई गुना धन हस्तगत कर सकते थे। मगर धन के स्थान पर यह तो इस लड़की को अपने साथ लेकर घर आते हैं। तो कहीं दाल में कुछ काला तो नहीं है। वैसे तो यह इसे पुत्री कहकर सम्बोधित कर रहे थे; मगर इसके रूप और इसकी अवस्था को देखकर मुझे सन्देह उत्पन्न होता है—कि कहीं यह मेरी सौत बनकर मेरा सुख छीन लेने के लिये तो यहाँ पर नहीं आई है। और मुझे अपना यह सन्देह सत्य जान पड़ता है। मगर अभी इसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना मेरी भूल होगी—यह अभी-अभी युद्ध-भूमि से लौटे हैं—तो अपने सन्देह को उन पर प्रगट करने के लिये यह उचित अवसर नहीं है। तो अभी तो इस ओर से मुझे सतर्क ही रहना पर्याप्त है।

और उधर रथी-पत्नि के पास में खड़ी हुई वसुमति सोच रही थी—अब रथी और रथी-पत्नि ही मेरे पिता-माता हैं—तो पुत्री होने के नाते मेरा कर्त्तव्य है कि मैं तन-मन से इन दोनों की सेवा करूँ—और अपने धर्म के माता-पिता को कुछ भी कष्ट न होने दूँ। मेरी अच्छी मा ने घर के सम्बन्ध में भी मुझे सभी कुछ सिखलाया था—तो मा के द्वारा दिये गये ज्ञान की सहायता से मैं अपने इस घर के सभी व्यक्तियों को प्रसन्न रखने का भरसक प्रयत्न करूँगी। उन्हें किसी भी

प्रकार का कष्ट न होने दूंगी। एक दिन मा ने मुझसे कहा था—'पुत्री! ससार मे जो व्यक्ति दूसरों को सुखी बनाकर खुश होते हैं, वास्तव मे वे ही इस जगत् मे सबसे अधिक सुखी हैं।' और अपनी मा के इस कथन मे भी मुझे अखंड विश्वास है। और तभी, उसे कुछ ऐसा जान पड़ा—जैसे उसकी मा ने समय-समय पर जो-कुछ भी उससे कहा था—उसके हृदय ने उसे सर्वदा ही बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकार किया था। और अब वह समय आ गया है कि अब वह उसे व्यवहृत कर देखे—और आत्मा के कल्याण के मार्ग पर आगे बढे। तो, उसका यह जीवन धन्य हो जाये—और अन्त मे वह मोक्ष को प्राप्त कर जीवन-मरण के चक्कर से छूट जाये। फिर, इसी बीच वह चम्पापुरी—अपनी जन्मभूमि की सेवा कर सके—और इस प्रकार उसके दुखों का अन्त! तो, उसके स्वप्न का शेप-भाग भी सत्य हो- और उसकी सती माता की यह इच्छा विश्वास मे बदल जाये।

फिर, माता की यह केवल इच्छा ही न थी, बल्कि अपनी पुत्री के लिये मा की यह आज्ञा भी! और अपनी धर्मशीला मा की आज्ञा का पालन करना वसुमति अपना कर्त्तव्य समझती है। परम् पवित्र कर्त्तव्य! तो, मा की आज्ञा का पालन वह निश्चय ही करेगी। जरूर करेगी। तो, मा की इच्छा, उसकी आज्ञा—केवल विश्वास ही बनकर न रह जायेगी। तो, वह विश्वास सत्य मे परिणित हो जायेगा! सत्य बन जायेगा।

तो, उस महान् कार्य का प्रारम्भ वह शीघ्र ही करेगी—और उसे पूरा कर, सत्य बनाकर ही दम लेगी।

१६

अपने धर्म-पिता रथी के घर में पहुँचकर वसुमति नें देखा—घर बड़ा है और सभी आवश्यक सामग्री से भरा-पुरा भी। फिर, देखने में भी सुन्दर और सजा-सजाया—मगर अव्यवस्थित है—तो, नवागन्तुक पर अपना उचित और हृदयग्राही प्रभाव नहीं डाल पाता। तो, घर की व्यवस्था दोष-पूर्ण होने के कारण अतिथि के मन को खिन्न कर देती है। तो, उसे जो रूखा-सूखा भोजन दिया गया था, वह इसलिये नहीं—कि घर मे अच्छे भोजन का अभाव है—अथवा घर के स्वामी की दशा ऐसी शोचनीय है कि स्वास्थ्य के लिये हितकर और आवश्यक भोजन का वह प्रबन्ध ही नहीं कर सकता। मगर बात वास्तव मे यह है कि घर के प्रत्येक कार्य के प्रति लापरवाही बरती जाती है, उस ओर आवश्यक ध्यान नहीं दिया जाता—तो, घर की सभी वस्तुओं में सुन्दरता का अभाव हो गया है। उनकी वास्तविकता दोष-पूर्ण व्यवस्था के गर्त्त मे छिप गई है। तो, सबकुछ यहाँ का;

नवागन्तुक को रूखा-रूखा-सा जान पड़ता है—और उसका मन खुश नहीं हो पाता। तो, वह खिन्न हो जाता है।

और वह मन ही मन स्वयं से कहने लगी—तो वसुमति, यह व्यवस्था बदलनी होगी। और यह भार तुझे अपने ऊपर लेना चाहिए। जब तू इस घर की कन्या बनकर यहाँ पर आ गई है—तो यह तेरा कर्तव्य है कि तू इस घर को अपना घर समझे। इसकी सेवा करे—और मा के द्वारा दिये गये ज्ञान की सहायता से इसे सुन्दर और सुरुचिपूर्ण बनादे। फिर, इस घर के रहने वाले प्रसन्न हों और यह घर खिल-खिलाकर हँस पड़े। तो जो कोई भी यहाँ पर आये—वह खुश हो—और अपने मन में सुख का अनुभव करे।

और स्वयं ही स्वयं से यह कहकर वह चुप हो गई। फिर वह सोचने लगी—थोड़े घरों के समुदाय का नाम ग्राम है और बहुत से घर जहाँ पर हों, उसे नगर कहते हैं। तो एक ग्राम अथवा नगर की सेवा करने वाले के लिये आवश्यक है—पहिले वह एक घर की सेवा करे—और तब एक ग्राम अथवा नगर की सेवा करने का साहस करे। अगर वह एक घर का सुधार लेता है—तो वह यह आशा कर सकता है कि वह एक ग्राम अथवा नगर का भी सुधार कर सकेगा। अपनी सेवा के द्वारा उसे सुखी और सुरुचिपूर्ण बना सकेगा।

तो जब मा की आज्ञा अथवा अपने स्वप्न के ध्येय-लक्ष्य को मुझे पूरा करना है—तो अपने उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये मुझे अपने उस कार्य को इसी स्थान से प्रारम्भ करना होगा। अपनी जन्म-भूमि चम्पापुरी के कलंक को मिटाने के

लिये पहिले इस घर की गर्द को साफ करना होगा। इस घर को साफ़-सुथरा और निर्मल बनाना होगा।

और जब मेरी अच्छी मा ने मुझे सभी प्रकार का ज्ञान दिया है—तो, अब अपने उस ज्ञान को मैं व्यवहार में लाकर देखूँगी—मैं देखूँगी—अपने उस ज्ञान को मैं व्यवहार मे ले-आने मे समर्थ हूँ—या नहीं? मा की आज्ञा का मैं पालन कर सकूँ—मुझमे ऐसी क्षमता है—अथवा नहीं?

तो, अब मैं यही करूँगी। इस घर की गर्द को साफ़ करने का कार्य मैं जरूर करूँगी।

और यह निश्चय कर वसुमति सो गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल वह सोकर उठी—तो, मन मे प्रसन्नता का अनुभव कर रही थी। उस समय सबसे अधिक खुशी तो उसे इस बात की थी—कि वह एक नये और अपरिचित स्थान पर भी शान्ति-पूर्वक सोई। मन की दुर्बलता उसके समीप फटकी तक भी नहीं--फिर, उसकी नींद में वह विघ्न तो बन ही कैसे सकती थी और बनी भी नहीं। फिर, वह सोकर उठी भी ठीक ही समय पर। घर के सभी व्यक्तियों से पहिले और दिन निकलने से पूर्व। और वह बहुत खुश थी।

तो, नित्य-कर्म से निवृत्त होने के पश्चात् वह घर के काम-काज मे लगी। और अपने धर्म-पिता रथी के घर की गर्द को साफ़ करती हुई वसुमति सोचने लगी—एक दिन मेरी अच्छी मा ने मुझसे कहा था—'वसुमति! जो भी कार्य करने के लिए

अपने हाथों में लो उसे अधूरा न छोड़ो। उसे पूरा जरूर करो। फिर उस कार्य को करो—तो, ऐसी खुशी के साथ करो कि उस कार्य को करने के पश्चात् तुम्हारा मन आनन्द का अनुभव करे। देखने और सुनने वाला खुश हो जाये—और इससे उसे प्रोत्साहन मिले। तो उसमें भी अपने काम को खुशी के साथ करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाये। और तब, किसी अन्य में भी इस स्वभाव का विकास हो—तो, धीरे धीरे समूचे मानव-समाज में यह अच्छी आदत फले और फूले। तो वह सबों को सुखी और आनन्द अनुभव करे। और अपनी माता के इन शब्दों को याद कर वसुमति फूली न समाई। फिर वह दूने उत्साह के साथ घर के दूसरे कमरे को साफ करने के लिये उसके द्वार पर पहुँची। मगर तभी उसने उस कमरे की ओर भी देखा, जिसको उसने अभी-अभी साफ किया था। तो उसकी स्वच्छता को देखकर वह पुलकित हो उठी।

फिर दूसरे कमरे को साफ करती हुई वह सोचने लगी—एक बार मा ने उससे कहा था—'वसुमति! बुराई की जड़ें बहुत गहरी होती हैं—फिर, दूर-दूर तक फैली हुई और बहुत ही घनेरी। तो बुराई का साफ करना बहुत कठिन काम है; मगर बेटी यह असम्भव नहीं। तो महान् आत्माएँ संसार में इसी कठिन कार्य को अपने हाथों में लेती हैं। और कमरे की धूल के समान संसार की इस धूल को साफ करने के कारण ही वे महान् बन जाती हैं और अपनी मा के इन शब्दों के सिलसिले में उसने इस बात को यों समझा—संसार

से बुराई की धूल को साफ़ करना है—वसुमति, तो, पहिले घर की धूल को साफ़ करने का काम अपने जिम्मे लो। उस महान् कार्य का यह प्रारम्भिक रूप है—तो, उसके प्रारम्भ को अगर तुम खूबी के साथ कर पाती हो—तो, अपने उस कार्य को भी तुम सुन्दरता के साथ पूरा कर लोगी। फिर घर को खूबी के साथ साफ़ करने का अर्थ है—घर के किसी कोने मे, उसके आस-पास—घर के भीतर या बाहर कहीं भी, धूल का एक कण भी न छूट गया हो। नहीं तो, वह बहुत जल्दी ही समूचे घर में फिर फैल जायेगा—और तुम्हारा यह कार्य खूबी के साथ किया हुआ नहीं माना जायेगा। क्योंकि मा ने यह भी कहा था—'वसुमति! बुराई फैलती भी बहुत शीघ्रता से है। अगर उसका कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म कण भी भूल से कहीं पर तुमसे छूट गया है—तो, वह बहुत जल्दी ही बढकर फिर समूचे ससार मे व्याप्त हो जायेगा।'

और खूबी के साथ कमरे की सफाई करती हुई वसुमति अपने कार्य में तन्मय हो गई। और जब दिन निकल आया—तो, उसने देखा—उसके धर्म पिता का घर आज रूप का आगार हो गया है। वह चमक-दमककर अपनी छटा को आज अपने चारों ओर फैला रहा है। तो, महान् कार्य के प्रारम्भ का यह रूप उसे बहुत अच्छा लगा। और अदृश्य में अपनी मा के सम्मुख अपने शीश को झुकाकर वह सोचने लगी—अगर मैं जीवन में कोई महान् कर सकी—तो, इसका श्रेय मेरी अच्छी मा को होगा। उसने तो मुझे सभी-कुछ सिखलाया है—मेरे जीवन को सर्वांग-पूर्ण बनाने का सफल

प्रसन्न किया है—फिर यह मेरी बुद्धिमानी पर आधारित है कि मैं उसकी शिक्षा का कितना—और कहाँ तक उपयोग कर पाती हूँ। हां मैं सोचती तो यही हूँ—कि मां द्वारा दी गई शिक्षा से मैं अधिक से अधिक लाभ उठाऊँ—और मां की आज्ञानुसार अपने उस लाभ को समूचे संसार के बीच बाँट दूँ।

फिर, वह रसोई-घर में पहुँचकर भोजन बनाने में लगी। तो रसोईघर की प्रत्येक वस्तु उसके हाथ का स्पर्श पाकर स्वयं में जीवन का-सा अनुभव करने लगी। और तभी वसुमति ने सुना—वे वस्तुएँ उससे कहने लगीं—देवि! आज हम बहुत खुश हैं। आपके कोमल करों का सुस्पर्श पाकर स्वयं आज हममें जीवन की ज्योति जगा रहा है—तो हम सच्चे सुख का अनुभव कर फूली नहीं समा रही हैं। आप हमें आज्ञा दीजिये। हम आपकी सेवा करने के लिये आपके सम्मुख उपस्थित हैं। और यह कहकर वे वस्तुएँ चुप हो जाती हैं—तो वसुमति उनके प्रति आभार प्रदर्शित कर आत्मानन्द में लीन हो गई।

और तभी रवी सोकर उठा रवि-पत्नि भी—तो, आज अपने घर की शोभा को देखकर वे दोनों ही ठगे-से रह गये। और अपनी बेटी की इस कार्य-कुशलता को देखकर रवी का मन नाच-नाच उठा। फिर वह विचारों में निमग्न हो सोचने लगा—वसुमति राजकुमारी है—तो उसने घर के किसी काम से अभी तक हाथ भी न लगाया होगा। दास-दासियों से वह घिरी रहती होगी। मन की इच्छाओं के साथ वह खेलती-

कूदती होगी--और किसी वस्तु के अभाव के विषय में तो उसने सुना भी न होगा। तो, आज मैं उससे कह दूंगा—कठिन परिश्रम के इन कार्यों को वह अपने इस तुच्छ धर्म-पिता के घर पर भी न करे। मैं राजा नहीं—तो, इतना तो हूँ ही कि उसे किसी भी प्रकार का कोई भी कार्य न करने दू। घर मे दास-दासियाँ है—तो, घर के सभी कामों को वे ही करेंगे। तो, अपनी बेटी से यह बात मैं आज जरूर कह दूगा। मैं अपनी लाड़ली बेटी को ऐसे कार्य कभी भी न करने दूँगा।

और वह अपनी पत्नि से कहने लगा—'अपनी बेटी की कार्य-कुशलता को देखा—तुमने! पुत्री के रूप मे चम्पापुरी की यह सजीव रत्नकनी हमारे लिये उन निर्जीव पत्थरों से कितनी अधिक मूल्यवान है। बेटी ने आते ही सूने-सूने घर को भर-सा दिया है—तभी तो देखो, वह कैसा खिलखिलाकर हँस पडा है। मुझे तो आज इस घर मे सबकुछ नया और सबकुछ जीवन से ओत-प्रोत जान पड़ता है। तो, ऐसा भास हो रहा है—मानो, हम पुराने घर मे सोये थे, मगर सोकर उठे हैं—नये घर मे। तो, मैं तो यही कहूँगा—कि हमारे कोई पुण्य उदय हो गये है, जो, अब हमे आकर ऐसी बुद्धिमती और धर्मशीला पुत्री अनायास ही प्राप्त हो गई है। नहीं तो हम दोनों का ऐसा भाग्य कहाँ था।'

और अपनी पत्नि से इस प्रकार कहने के उपरान्त, चारों ओर से अपने घर को देखता हुआ रथी, मन ही मन अपार प्रसन्नता का अनुभव करने लगा। वह सोच रहा था—आज मेरा गृहस्थ-जीवन धन्य हो गया। ऐसी अच्छी पुत्री को प्राप्त

कर ऐसा कौन पिता होगा जो, फूला न समायेगा। मेरी बेटी ऐसी गुणवती है—तो आज मैं स्वयं को सबसे अधिक भाग्यशाली समझता हूँ।

मगर अपने पति की ये बातें गृह-स्वामिनी को अच्छी न लगीं। वास्तव में उसका सन्देह-पूरित मन अपने पति की इन बातों को स्वीकार ही न कर सका। वसुमति की कार्य-कुशलता को देखकर वह आश्चर्य-चकित तो जरूर रह गई; मगर पति के मुख से उसकी प्रशंसा सुन वह मन ही मन खीज उठी। और वसुमति-विषयक उसका सन्देह और आगे बढ़ा। वह विचारने लगी—यह तो बहुत चालाक जान पड़ती है—तभी तो मुझे भ्रम में रखने के लिए इसने घर में आते ही दाव पेच खेलने शुरू कर दिये हैं। सोचती होगी—अपने इस उपाय के द्वारा वह मुझ पर अपना अधिकार बहुत ही सरलता और शीघ्रता से कर लेगी। मगर मैंने भी दुनियाँ देखी है। ऐसी चालाकियाँ तो मैं अपने पल्ले में बाँधे फिरती हूँ। और वसुमति के प्रति वह मन में उपेक्षा की हँसी हँस चुप हो गई।

फिर उसने निश्चय किया—पति से अथवा पति के सम्मुख उससे अभी कुछ भी न कहूँगी—जब तक कोई उपयुक्त अवसर न आ जायेगा—क्योंकि, स्वामी इन दिनों उसकी ओर पूर्ण रूप से आकर्षित है—तो कुछ दिनों तक, स्वामी पर मेरी बातों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। तो उनके सम्मुख तो मैं इससे अच्छी तरह से ही बोलूँगी; मगर उनके पीछे

इसके साथ ऐसा व्यवहार करूँगी, जिससे यह उकता जाये और एक दिन स्वयं ही यहाँ से भाग जाये।

और अपने उपाय की महत्ता में विश्वास कर खुशी से वह उछल पड़ी।

मगर उस समय सरल-हृदया वसुमति भोजन बनाती हुई सोच रही थी—मेरे जीवन का उद्देश्य यही है कि मैं अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई सभी को सुख पहुँचाऊँ। सभी का आदर-सत्कार करूँ—और अपने मार्ग की विघ्न-बाधाओं को ठोकर मार कर नहीं, मगर इसके विपरीत प्रेम और सेवा के द्वारा उन्हें विजय करती हुई आगे बढ़ूँ। तो, मा के कथनानुसार मेरा मार्ग बहुत कठिन है, मगर मा का आशीर्वाद मेरे साथ है—वह मेरी सहायता करेगा, मुझे विश्वास है—और अब मैं अपनी शक्ति पर भी भरोसा करती हूँ। तो, मैं अपने लक्ष्य को निश्चय ही प्राप्त कर लूँगी। मार्ग की कठोरता मुझे अपने उद्देश्य से विचलित नहीं कर सकेगी—तो, मैं मा की आज्ञा का अक्षरशः पालन करूँगी।

और अपने उद्देश्य के प्रति अपने रोम-रोम में दृढ़ता और सत्य-लगन् का अनुभव कर वसुमति फूल-सी खिल उठी।

फिर वह असीम उत्साह, मन की अपरिमित पवित्रता और अपने उद्देश्य के प्रति सत्य-भक्ति के साथ अपने कठिन-कठोर मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ी। और कुछ ही दिनों मे उसने अपने धर्म पिता रथी के घर को प्रयत्न कर स्वर्ग बना

समझा। वास्तव में वह इस घर को अपना ही घर समझ घर के सभी छोटे-बड़े कामों को स्वयं ही करती—तो, उसके द्वारा खुशी के साथ किये गये वे काम घर की श्री-वृद्धि करते—और वह घर आनन्द में मग्न हो सभी के मन को आनन्द से भर देता। फिर रथी घर के दास और दासियाँ और वहाँ पर आने-जाने वाले वसुमति की प्रशंसा करते—और अपनी प्रशंसा को सुन वसुमति सकुच-सी उठती। फिर वह और भी अधिक उत्साह के साथ अपने मार्ग पर आगे बढ़ती।

तो रथी-पत्नि के मन का मैल उसका जान-बूझकर किया जाने वाला कटु-व्यवहार, बिना बात के कोई नई बात पैदा कर देने वाला उसका स्वभाव और उसका अकारण सन्देह, वसुमति के शरीर या मन पर, अपना प्रभाव न डाल पाता। वह इसलिये क्रोध न करती अपनी अहिंसा को न त्यागती अपने सत्य-व्रत को न छोड़ती और न अपने लक्ष्य को ही भूलती; बल्कि, इसके विपरीत वह अपनी माँ की आज्ञा अथवा अपने स्वप्न के राज-भाग की पूर्ति के निमित्त, अपने लक्ष्य की ओर और भी अधिक दृढ़ता के साथ, बढ़ने का प्रयत्न करती—और खुश होती। तो, अपनी धर्म-माता को प्रसन्न करने का वह भरसक प्रयत्न करती। अपनी श्रद्धा और सेवा के द्वारा हर समय उसे खुश रखना चाहती।

मगर रथी-पत्नि का कलुषित हृदय जब वसुमति को घर से निकाल-बाहर करने में ही अपना कल्याण मानता था—तो उसकी सेवा उसकी श्रद्धा और उसके प्रेम की ओर वह ध्यान ही क्यों देता—और उसने दिया भी नहीं। तो

रथी-पत्नि अपने हृदय की बात मान उसकी नम्रता को देखकर और भी अधिक चिढ जाती ! फिर, वह कोशिश करती—किसी भी तरह वह वसुमति को अपने पति की दृष्टि मे गिराये। तो, कभी-कभी वह सबकी आँखें बचाकर, वसुमति के द्वारा खूबी के साथ साफ किये गये स्थान मे कूढ़ा फैला देती—और फिर, सबको सुनाकर वह उससे कहती— बनावटी हँसी हँसकर, झूँठा प्यार दिखाकर—'मैं तो समझती थी—बेटी, घर के काम-काज करने में बहुत ही चतुर है, मगर मुझे अब ज्ञात हुआ—वह ऐसी छोटी भूल भी कर सकती है, जिसे चतुर तो क्या कोई फूहड़ भी नहीं करेगी ! कमरे को झाड़कर उसका कूढ़ा वहीं कोने मे पड़ा छोड़ दिया है। वाह, पुत्री ! वाह !'

मगर अच्छी वसुमति उसकी इस चालाकी की ओर ध्यान ही न देती—तो, क्रोध उसके पास आने का साहस ही न करता—और वह रथी पत्नि के सम्मुख अपने शीश को झुकाकर बहुत ही विनीत स्वर में उससे प्रार्थना करती—'क्षमा कीजिये, माताजी ! मुझसे भूल हो गई। मैं अभी उसे उठाकर फेंक देती हूँ।' और उसी क्षण वह उस कार्य को कर भी डालती।

और रथी तथा घर के अन्य सभी वसुमति के इस उत्तर को सुनकर मुग्ध होकर रह जाते। वे सोचते—गृह-स्वामिनी मूर्ख है। तभी तो ऐसी बुद्धिमती, गृह-कार्य में दक्ष, पवित्र-हृदया और नम्र स्वभाववाली कन्या के साथ इस प्रकार का व्यवहार करती है। ऐसी धर्मशीला कन्या उसे अनायास ही

प्राप्त हो गई है—तो यह तो उसका सौभाग्य है। यह कन्या क्या इस घर के लायक है—तो यह तो इस बेचारी का दौर्भाग्य ही है, जो यहाँ पर आगई है—मगर इसके लिये भी यह दुखी नहीं है—तो उसकी सहिष्णुता भी अनोखी और अपरिमित है। और यह सोचकर वे सभी आश्चर्य-चकित रह जाते।

मगर उसी विस्मितहुये रथी के मस्तिष्क में धारिणी आकर हो उठती—और रथी का आश्चर्य क्षणभर में ही कहीं—किसी ओर विलीन हो जाता। और वह स्वयं से कहता—उस दिन तुमने सती धारिणी का आत्म-बल, उसकी निष्ठा और उसकी सहिष्णुता का तो देखा ही था—रथी तो! पुत्री वसुमति के इन गुणों पर तुम आश्चर्य से मुँह क्यों फाड़ते हो? पागल! वह आदर्श मा की एक आदर्श पुत्री है। तो उसमें तो यह सब कुछ होना चाहिये ही था और उसमें है। अगर नहीं होता—तो यह बात जरूर आश्चर्य-जनक होती।

मगर जब मा के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं—तो इसमें आश्चर्य क्यों? तो पुत्री वसुमति तुम्हारे लिये वरदान-रूप है। वह तुम्हारी आराध्य-देवी है। तो उसके अगर तुम पिता ही बने रहे तो उस दिन वाली तुम्हारी प्रतिज्ञा असत्य हो जायगी। तो वसुमति के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त करो। उससे कुछ सीखो। उसके अनुसार कुछ करो—और इस संसार में अमर हो जाओ। फिर, आत्मा से परमात्मा बन जाओ।

और दूसरे दिन

घर के सभी कामों से निवृत्त होने के पश्चात्, नित्य के नियम के अनुसार, जब वसुमति धर्म-चर्चा करने के निमित्त, घर के दास-दासियों को अपने साथ लेकर बैठी—तो, उनके स्वामी रथी को उनके बीच में बैठते देख वह खुशी से फूली नहीं समाई। और उसने सोचा—पिता जी के मन मे समभाव अगर स्थिर हो गया है—तो, उनका यह विचार शुभ है। मैं हृदय से उनके इस विचार का स्वागत् करती हूँ। फिर, वह कहने लगी—'धर्म—महान् और तुच्छ, धनवान और निर्धन और स्वामी और दास के भेद को स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि मे सभी बराबर हैं, सभी समान। इसीलिये धर्म-शील व्यक्ति स्वयं मे सम-भाव को स्थिर करता है। वह समान रूप से अपना सब-कुछ सभी को देता है—सूर्य के प्रकाश की भाँति, चन्द्रमा की निर्मल चन्द्रिका के समान। तो, यह उस मनुष्य की बुद्धि का भ्रम है, जो, वह स्वयं को बड़ा और दूसरे को छोटा समझता है। स्वयँ को स्वामी और दूसरों को अपना दास कह कर उनका अपमान करता है। अपने को वह महान् बतलाता है—और दूसरों को तुच्छ।'

'तो, ऐसा वह अपनी बुद्धि के भ्रम में भ्रमित हुआ व्यक्ति वास्तव मे धर्म से बहुत दूर है। वह अहिंसा के मर्म को नहीं समझता है। सत्य को वह नहीं जानता है। तो, भलाई का कोई भी कार्य कर-सकने मे वह असमर्थ है। और जब वह भलाई का कार्य कर-सकने में ही असमर्थ है—तो, अपने जीवन की उपयोगिता के विषय मे अपरिचित। तो, उसका जन्म निरर्थक है। उसका कर्म व्यर्थ है। और वह जन्म-मरण

के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। वह आत्मा से परमात्मा नहीं बन सकता।

'तो ऐसे उस व्यक्ति को समझाना होगा। उससे कहना होगा—ओ मूढ़े भाई! तुम मानवता के पथ से भटक गये हो। तुम अज्ञान के अंधकार में फँस गये हो—तो अपनी वास्तविकता को खो बैठे हो। तुम भूल गये हो—कि आत्मा अजर है, आत्मा अमर है—फिर, आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। तो सांसारिक भेदों से वह मुक्त है। सभी जीवों में समान रूप से विद्यमान है। तो, जो मैं हूँ—सो तू है। तो यह तुम्हारी बुद्धि का भ्रम है—जो स्वयं को बड़ा और दूसरों का छोटा समझते हो। और उनको छोटा समझ अपने मन की पवित्रता को नष्ट करते हो।

'तो ऐसा न करो, भाई! और सत्य के पथ पर आगे बढ़ो। फिर जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाओ।'

और अपने आत्मके प्रवचन को इस प्रकार समाप्त कर वसुमति चुप हो गई। और पुत्री के इन शब्दों को सुन रथी का मन पुलकित हो उठा। तो वह अपार आनन्द का अनुभव कर खुश था बहुत खुश!

और वह वहाँ से उठकर चला—तो, सोच रहा था—वसुमति राजकुमारी है, मगर कितनी सरल और कितनी सात्विक! कितनी पवित्र और कितनी विनम्र! अपने विषय में कितनी उदासीन; मगर दूसरों के प्रति कितनी सावधान! धर्मशीला और सत्य ज्ञान से ओत-प्रोत! तो, ऐसी गुणवती

पुत्री को प्राप्त कर मैं स्वय को धन्य-भाग समझता हूँ। पवित्र लक्षणों वाली अपनी बेटी के कारण मैं अपने मन में गौरव का अनुभव करता हूँ।

और इस प्रकार सभी को सुख पहुँचाती हुई वसुमति अपने उस महान् पथ पर निरन्तर आगे बढ़ रही थी। अपनी कार्य-कुशलता की सहायता से उसने रथी के घर को आनन्दमय बना डाला था। अपने धर्म-पिता के घर मे उसने जीवन की ज्योति जगादी थी। घर के सभी कामों को वह अपने हाथों से किया करती थी—और खुश होती थी। वह जानती थी—सेवा का कार्य कठिन तो जरूर है, मगर सच्चे सुख, आत्मा के सुख का अनुभव कराने वाला भी वही। फिर, अगर उसे अपनी मा की आज्ञा का सच्चे अर्थों मे पालन करना है—अगर उसे अपने स्वप्न के शेष-भाग को सत्य करना है—तो, उसे लोक-कल्याण के इसी पथ पर आगे बढ़ना होगा। उसे इसी सत्य-पथ पर बढ़ चलना होगा—तभी, उसकी आत्मा का कल्याण हो-सकना सम्भव है—अन्यथा नहीं। तो, अपनी मा के आशीर्वाद की सहायता से वह शाश्वत वेग के साथ धर्म के अपने मार्ग पर आगे—और आगे ही बढ़ी चली जा रही थी। फिर, उसका विश्वास अटूट था, उसकी आस्था अखड थी।

और उसने यह प्रण किया था—अपनी माता की आज्ञा के पालन के निमित्त, जन्मभूमि चम्पापुरी को एक बार फिर सुखी और आनन्दमय बना देने के लिये, अज्ञान के अन्धकार में डूबी हुई नारी-जाति के उत्थान के निमित्त-फिर, लोक-कल्याण और आत्म-कल्याण के लिये, वह आजन्म ब्रह्मचर्य

का पालन करेगी। अपने मार्ग की कठिनाइयों पर वह प्रेम और क्षमा से विजय प्राप्त करती हुई जीवन-पर्यन्त अपने धर्म के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ेगी—और अन्त में जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जायेगी।

तो अपने इस महान् कार्य के शुभ प्रारम्भ को देखकर वह सन्तुष्ट थी। फिर, अपनी भूलों की ओर से सतर्क! तो, अपने मन में सच्ची अहिंसा को धारण कर, चौर्य और परिग्रह की भावना से मुक्त हुई, सत्य और ब्रह्मचर्य की अपार शक्ति के सहारे, मा के द्वारा दिये गये ज्ञान के आलोक में, कर्तव्य के अपने मार्ग पर वह द्रुत-वेग से दौड़ती चली जा रही थी—और वह सन्तुष्ट थी।

प्रगति के पथ पर

१७

और उन्हीं दिनों—एक दिन,

पुत्री वसुमति के द्वारा किये जाने वाले कठिन परिश्रम—फिर, उसके पिछले सुखमय जीवन की परस्पर तुलना कर रथी अपने मन मे सोचने लगा—मैं उसकी मा का हत्यारा हूँ, मगर इसलिये वसुमति मुझसे घृणा नही करती। मुझ पर उसे क्रोध नहीं हो आता। तो, मैं समझता हूँ, शायद इस विषय मे वह कभी कुछ सोचती भी नहीं—ओह! कितनी गभीर और कितनी सहिष्णु है—वह! धर्मशीला और आनन्द प्रिया—मेरी वेटी! जिसके जीवन का ध्येय ही केवल यह है—स्वयं भले बनो और दूसरों को भी भला बनाओ। अपना भी कल्याण करो और दूसरों का भी! तो, अब अपनी सर्वगुण-सम्पन्ना वेटी को घर के इन तुच्छ कार्यों को मैं नहीं करने दूगा। मैं जानता हूँ, अपने जन्म-दाता पिता के घर पर उसके सम्मुख सुखों का ढेर रहा होगा। वह राज-कन्या है—तो, उसने कभी घर के काम-काज से हाथ भी न लगाया

होगा—तो अब धर्म-पिता के घर पर भी वह घर के इन तुच्छ कामों को नहीं करेगी। मैं उसे इन कामों को करते हुये नहीं देख सकता। मैं उससे मना कर दूंगा—आज ही और अभी!

और अपनी पुत्री वसुमति के प्रति मन में अपार स्नेह का अनुभव कर वह उठकर खड़ा हो गया। फिर, अपने कमरे में विचारों में निमग्न बैठी वसुमति के समीप पहुँच वह उससे कहने लगा—"हे पुत्री! जिस कुल और जिस पिता के घर में तुमने जन्म लिया है और जहाँ पर रहकर तुम इतनी बड़ी हुई हो मैं तुम्हारे उस कुल और जन्मदाता पिता से भलीभाँति परिचित हूँ। फिर मैं यह भी अच्छी तरह से जानता हूँ कि तुम्हारा पालन-पोषण कैसे राजसी ढँग पर हुआ होगा। अपने धर्म-पिता के घर पर आने से पूर्व तुम कितने सुख के साथ अपना जीवन व्यतीत करती रही होंगी। सैकड़ों ही दासियाँ हर समय तुम्हारे सम्मुख हाथ बाँधे खड़ी रहती होंगी। तो, अब भी पुत्री! मैं नहीं चाहता कि तुम इतना कठिन परिश्रम करो। इसके विपरीत मैं तो चाहता हूँ कि तुम घर के किसी काम से भी हाथ न लगाओ। अगर तुम्हारी दृष्टि में घर का काम अधिक है—जितना है, उतने नौकर-चाकर घर के पूरे कामों को नहीं कर सकते—तो मैं आज ही और नौकर रखलूँ। मगर तुम इन तुच्छ कामों को अपने हाथों से मत करो। जब तुमने अपने जन्मदाता पिता के घर पर इन कामों को नहीं किया—तो, धर्म-पिता के घर पर भी मत करो। फिर, यहाँ भी उसी सुख

के साथ रहो, जिस प्रकार तुम वहाँ पर रहती थीं। इन मैले-कुचैले और फटे-पुराने वस्त्रों को त्याग दो—पुत्री! और अपने धर्म-पिता की आत्मा के सुख के लिये बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणों को धारण करो। अच्छा जाओ—और सुख से रहो। तुम्हारे पिता का सुख इसी में है—पुत्री!' और अपने इन शब्दों को कहते-कहते रथी के नेत्रों मे जल भर आया।

और अपने धर्म-पिता की यह दशा देखकर वसुमति बोली—'पिता जी! आप इस प्रकार दुखी क्यों हो रहे हैं। आप विश्वास कीजिये, मैं अपने इस घर पर भी पूर्ण सुखी हूँ। आपके और माता जी के आधिपत्य मे रहती हुई मैं हर समय अपार सुख का अनुभव करती रहती हूँ। मैं आपसे सत्य कहती हूँ—कि घर के प्रत्येक व्यक्ति का स्नेह मुझे मिल रहा है—तो, मुझे किसी भी प्रकार की चिन्ता का अनुभव नहीं होता। तो, मैं पूर्ण सुखी हूँ और अपने आज के जीवन से सन्तुष्ट भी!'

'फिर, पिताजी! बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण धारण करने से ही मनुष्य बड़ा नहीं बन जाता—और न घर के काम न करने पर सुखी! तो, आप इस साधारण सी बात को लेकर इतने अधिक दुखी क्यों हो रहे हैं। मानव-जीवन की महत्ता इसीमे है कि उसका रहन-सहन सीधा और सादा हो और उसके विचार उच्च! तो, इस कथन की सत्यता मे विश्वास करने के कारण ही मैं अपना जीवन इस प्रकार का बनाये हूँ, अन्यथा, मुझे किसी प्रकार की कोई कमी थोड़े ही है। फिर, अपने घर के कामों को हम तुच्छ किस प्रकार कह

सकते हैं। पिताजी! आप स्नेह के कारण ही यह बात इस प्रकार मुझसे कह रहे हैं—तो आप मेरी ओर से बिल्कुल भी चिन्ता न कीजिये। अपने घर के कामों को करने से कहीं कोई थका करता है—तो, आप निश्चिन्त रहिए। फिर, मनुष्य संसार में इसीलिये जन्म-ग्रहण करता है—कि वह कर्म करे और उसका कर्म शुभ-फल का देने वाला हो—तो आलस्य में बैठे रहकर जीवन-यापन करना मनुष्य की सबसे बड़ी मूर्खता है। तो उद्योगी मनुष्य ही—पिताजी! इस संसार में सम्मान प्राप्त करते हैं—और अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।'

और वसुमति के इन शब्दों को सुनकर सेठ का मोहान्ध प्यार उससे बहुत दूर जाकर खड़ा हो गया। तो उस समय स्नेह के विवेक अभिप्राय से उसने देखा—ऐसी-स्वरूपा उसकी पुत्री वसुमति एक असाधारण कन्या है। और यह देखकर वह आनन्द में मग्न हो मन ही मन उसकी प्रशंसा करता हुआ कमरे से बाहर चला गया।

तो वसुमति घर के काम में लगी, मगर अभी उसने काम में हाथ लगाया ही था—कि सेठ-पत्नि ने उसके समीप पहुँच कर हाथ का पकड़ कर झटका दिया—और बहुत ही कठोर वाणी में वह उससे कहने लगी—'दुष्टा! काम करने से पहिले तू मुझे यह बता—कि तू है कौन? तू किसकी कन्या है। तूने किस कुल में जन्म लिया है। तेरे माता-पिता का क्या नाम है—और तू मेरे घर को अपना घर बना लेने की फिक्र में क्यों रहती है?' और एक साथ ही कई प्रश्न कर वह

भयंकर क्रोध को अपने नेत्रों में बसाये वसुमति की ओर एकटक देखने लगी—तो, उस समय ऐसा जान पड़ने लगा—मानो, वह अपनी आँखों की आग से वसुमति को जलाकर आज राख कर डालेगी। वह निश्चय ही आज उसे भस्म कर देगी।

और उसके इस डरावने रूप को देखकर वसुमति ने अपनी पलकें नीची करलीं, मगर वह माता के इस क्रोध का कारण बिल्कुल भी न समझ सकी—तो, बहुत ही कोमल वाणी में वह उससे कहने लगी—'माताजी! क्या मुझसे कोई भूल हुई है—तो, आप मुझे क्षमा कीजिये। आज्ञा दीजिये—मैं और क्या काम करूँ? मेरी तो माता आप ही हैं—और मेरे पिता हैं, आपके स्वामी। तो, जब आप दोनो मेरे पिता-माता हैं—तो, आपका कुल ही मेरा कुल है—और आपका घर ही मेरा घर! फिर, आप सब मुझे पुत्री कहकर सम्बोधित करते हैं—तो, मेरा नाम पुत्री ही है—कोई अन्य नाम फिर किस प्रकार हो सकता है।'

और वसुमति के इस कोमल उत्तर को सुनकर भी क्रोध के वशीभूत हुई रथी-पत्नि, मानो, उस पर उबल पड़ी—'ओ दुष्टा! अपनी ज़बान को लगाम दे—और चुप रह! मुझे माता कहते हुये तुझे शर्म भी नहीं आती। डूबकर भी नहीं मरा जाता। जैसी तू है, आज मैं तुझे अच्छी तरह से जान गई हूँ। ना, अपना नाम बताती है—और न अपने माता-पिता और कुल के सम्बन्ध में ही कुछ कहती है। चली है, मेरी पुत्री बनने।' फिर अपनी बात घर के सभी व्यक्तियों को सुनाने की इच्छा

से वह चीखकर बोली—'भो पाप की पुतली! आज मैंने तेरा चरित्र अपनी आँखों से देख लिया है। अब मैं तेरे धोखे में नहीं आ सकती। सौत बनने की इच्छा को अपने मन में छिपाकर रखती है—और मुँह से कहती है—आप मेरी माता हैं। मैं आपकी पुत्री हूँ। अरी कुलटा! आज मैं सब-कुछ जान चुकी हूँ। नौकरों के रहते हुये भी जो घर का काम करके तू मुझे अपने वश में करना चाहती थी—तो मैं इतनी मूर्ख नहीं हूँ। मैं जान गई हूँ—तू मेरा सुख छीनने के लिए यहाँ आई है————।'

रथी-पत्नि की आवाज से इस बार समूचा घर गूँज उठा। घर के सभी व्यक्तियों ने उसके इन शब्दों को सुना—और वे दौड़कर घटना-स्थल पर आये—और उसके इस विकराल रूप को देखकर सभी स्तब्ध खड़े रह गये। वे सोचने लगे—इतनी अच्छी पुत्री पर यह भयंकर कलंक लगाते हुये इसे तनिक भी शर्म नहीं आ रही है—तभी तो इस समय इसका रूप कैसा डरावना हो गया है—कि इसकी ओर देखा तक भी नहीं जाता है। मगर धर्मशीला पुत्री के मुख पर कैसी पवित्रता और कैसी शान्ति विराज रही है—मानो जैसे कुछ भी नहीं हुआ है। धन्य है पुत्री को! कितनी सहिष्णु————

तभी रथी को वहाँ पर आ-पहुँचा देख वे सोचते-सोचते ठहर गये। मगर रथी-पत्नि कहती ही चली गई—'या तो इस घर में अब यही रहेगी—या मैं ही रहूँगी। अब मैं इसी समय चल-चल महल करूँगी जब यह बुआ बाजार में बिक जायेगी। मैं अब————।'

उसे बीच में टोक कर तभी साश्चर्य रथी ने उससे पूछा—'पुत्री ने आज ऐसी कौनसी भारी भूल की है, जिसके कारण तुम उसे ऐसा कठोर दण्ड दे रही हो। तुम्हारा रूप भी इस समय कैसा भयकर हो गया है—कि तुम्हारी ओर देखना भी कठिन हो उठा है।'

और पति की इस साधारण-सी बात ने भी पत्नि की क्रोधाग्नि में आहुति का काम किया—तो, वह अग्नि की लपट के समान तड़प कर बोली—'यह मेरी पुत्री नहीं—मेरी सौत है। आज मैं इस सत्य से भली-भाँति परिचित हो गई हूँ। आज मैंने अपनी आँखों से सभी-कुछ देख लिया है। अब और अधिक मैं धोखे में नहीं रहना चाहती। अब इसे अपने घर से निकाल कर ही मैं अन्न और जल ग्रहण करूँगी।'

और साँस लेकर वह फिर कहने लगी—'इस कुलटा के रूप के सम्मुख मेरा रूप तुम्हें क्यों अच्छा लगेगा। अब तो यह रूपवती है और मैं कुरूपा! मगर अब मैं इसे अपने घर में नहीं रहने दूँगी। मैं तो सोचती थी—चम्पापुरी से अपार धन लेकर घर लौटोगे—तो, मेरा घर रत्नों से भर जायेगा, मगर अपार धन के स्थान पर लाये, मेरी सौत! तो, अपनी इस सौत को अब मैं बाजार में बिकवा कर ही दम लूँगी—नहीं तो, नगर में सभी से इस बात को कहूँगी। मुझे अब तभी सुख होगा—जब, मेरी इस सौत को बेचकर बीस लाख सोनैया मेरे हाथों पर लाकर रक्खोगे। तभी, मैं अन्न-जल ग्रहण करूँगी—अन्यथा, भूखी और प्यासी ही मर जाऊँगी।' और इतना कहकर वह फूट-फूट कर रोने लगी।

सती साध्वी को अपने घर से नहीं निकाल सकता। तो, मुझे क्षमा करो—पुत्री !'

मगर वसुमति उससे कहने लगी—'पिता जी ! मैं समझती हूँ कि इस प्रकार आप धर्म की अवहेलना कर रहे हैं। आप मेरी जन्म-दात्री मा के उपदेश और मेरी बातों को भूल रहे हैं। तो मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप ऐसा न करें। फिर, जब इस घर से मैं स्वयं ही जा रही हूँ—और बिकना भी मैं खुद ही चाहती हूँ—तो इसलिये आप क्यों दुख करते हैं और आप पापी फिर किस प्रकार बन सकते हैं। तो आप अपने मन के इस भ्रम को दूर कर दीजिये। मेरे विषय में माताजी को जो सन्देह हो गया है, उसे उनके मन से दूर कर देना मेरा कर्तव्य है—तो आप स्वयं के साथ मुझे बाजार में ले चलिये—और मुझे बेचकर माता जी के सन्देह और भ्रम को दूर कीजिये। मैं माता जी की आज्ञा को अपने शीश पर धारण करूँ—यह मेरा परम् पवित्र कर्तव्य है—तो मुझे अपने कर्तव्य का पालन करने दीजिये—पिता जी ! मुझे बिककर माताजी से उऋण होने दीजिये पिता जी !'

और पुत्री मगर मार्ग-दर्शिका वसुमति के इन शब्दों को सुनकर रथी उत्तर में कुछ भी न कह सका। वह केवल इतना ही कहकर—'जो आज्ञा ज्ञानमयी ! मुझे शिरोधार्य है।' चुप हो गया।

तब स्थिरमना वसुमति ने सभी को अभिवादन किया सभी से विदा माँगी और इस प्रकार सभी का आशीर्वाद प्राप्त कर

अन्त में वह अपनी धर्म-माता के समीप पहुँच बोली—'माता ! आपकी असीम अनुकम्पा के लिये मैं आपकी चिर-कृतज्ञ रहूँगी। अपने प्रति आपकी दया के फल-स्वरूप ही मैं अपने कार्य को प्रारम्भ कर-सकने में समर्थ हो सकी—और अब आपके द्वारा समय पर सचेत किये जाने पर ही मैं अपने पथ पर आगे बढ़ सकूँगी—तो, मैं आपकी इस महती कृपा को किस प्रकार भूल सकती हूँ। फिर, आपके प्रति मुझसे अनेक भूलें हुई हैं—तो, माता ! मेरी उन भूलों के लिये आप मुझे क्षमा करना।' और अपने कथन को इस प्रकार समाप्त कर वह रयि-पत्नि के सम्मुख झुक-सी गई।

फिर, अपने धर्म-पिता को साथ में लेकर वह अपने मार्ग पर आगे बढ़ी। वह घर से निकलकर चली—तो, सभी के दिल का दर्द कराह उठा। अपनी पुत्री को खोने के कारण वे सभी रो पड़े। मगर रयि-पत्नि अभी भी यही सोच रही थी—ओह ! इस तनिक-सी लड़की में कितनी चालाकी भरी है। जब यह देखा—कि अब मेरी वास्तविकता सभी पर प्रगट हो जायेगी—मेरा भेद सभी पर खुल जायेगा—तो, चलदी, मगर सभी पर जादू-सा करके ! अपने प्रति सभी की करुणा को जगाकर ! मगर प्रयत्न करने पर भी वह मुझे अपने वश में न कर सकी—और यह मेरा सौभाग्य है—अन्यथा, अगर इस समय मैं उसकी बातों में आ-जाती तो यह सत्य है कि एक दिन मुझे वह इस घर में से निकलवा देती। और स्वामी तो उसके वश में हैं ।

रथी ने उसे समझाने का प्रयत्न किया मगर वह हठ पूर्वक अपनी बात पर ही अड़ी रही—और रथी को क्रोध हो आया—तो वह कहने लगा—मैं समझता था, मेरी भांति तुझ पर भी पुण्यशीला पुत्री का कुछ-न-कुछ प्रभाव निश्चय ही पड़ा होगा मगर तेरी आज की बातों को सुनकर सोचता हूँ—यह मेरा भ्रम था। तो जान पड़ता है—तूने सर्वगुण सम्पन्ना पुत्री की ओर बिल्कुल ध्यान ही नहीं दिया है। वह सती थी—और अब भी वैसी ही है—तो आज मैं तुझसे कहता हूँ—तू मेरे घर से निकल जा—और जो-कुछ तेरे मन में आवे वह तू कर। इस सती साध्वी पर तुझे लाँछन लगाना अगर भला जान पड़ता है—तो अब मेरे घर में तू नहीं रह सकती। तू इसी वक्त यहाँ से चली जा—और समूचे नगर में इस बात को कहती फिर, राज-सभा में भी जाकर प्रार्थना कर। भूखी और प्यासी मरजा। मैं तुझ-जैसी दुष्ट पत्नी का मुँह भी नहीं देखना चाहता। मैं ———।

तभी माता और पिता के बीच में खड़ी होकर वसुमति पिता के बढ़ते हुये क्रोध के शमन के निमित्त रथी से कहने लगी—'पिता जी! आप माताजी पर व्यर्थ ही क्रुद्ध हो रहे हैं। माता जी ने अपने पास में मुझे इतने दिनों तक रखकर, वास्तव में मुझ पर महती कृपा की है। अगर उनसे उऋण होने के लिए केवल बीस लाख सोनैया ही पर्याप्त हैं—तो, मैं समझती हूँ अपनी अपरिमित कृपा के बदले में वह मुझसे बहुत ही कम धन माँग रही हैं। मैं तो सोचा करती थी—मैं उनसे उऋण ही न हो सकूँगी, मगर इतने कम मूल्य पर मुझे

मुक्ति मिल रही है—तो, मैं खुश हूँ। मैं यह तो नहीं जानती कि बाजार में मेरी क्या कीमत होगी, मगर उनकी आज्ञा को मैं सहर्ष स्वीकार करती हूँ। तो, पिताजी! अब मुझे वहाँ पर जाने दीजिये, जहाँ मेरी इस समय आवश्यकता है। और आपसे प्रार्थना है—कि आप शीघ्र ही मेरे साथ बाजार को चलें, जिससे मेरे कारण माताजी को अधिक कष्ट न हो।' और इतना कहकर वह चुप हो गई।

तो, वसुमति के इन शब्दों को सुनकर सभी का दिल भर आया, मगर रथी-पत्नी उसी भांति कठोर बनी रही—और पुत्री के प्रति अपनी पत्नी का यह अन्याय रथी सहन न कर सका—तो, वह वसुमति से बोला—'इस समय तुम भी कैसी बातें करती हो—पुत्री! तुम इस स्त्री को नहीं जानतीं। यह दुष्टा है, पुत्री! इसका हृदय दया से शून्य है—तभी तो, तुम्हारी इन बातों का भी इस पर कुछ भी प्रभाव हुआ नहीं जान पड़ता। यह शिला है—यह नहीं पिघलेगी! तभी तो देखो ना, कैसी अचल खड़ी है। तो, इस कलंकिनी को भूख और प्यास से तड़प-तड़प कर मर जाने दो—पुत्री! मगर मुझसे यह पाप करने के लिये न कहो—बेटी! पुत्री का विक्रेता बनकर मैं संसार और अपनी ही दृष्टि में कलंकित नहीं होना चाहता। मैं यह पाप-भरा कार्य नहीं कर सकता। मुझे इस समय इसी बात का बहुत भारी दुख है—कि मैं ऐसी दुष्ट स्वभाव वाली स्त्री का पति बना। तो, इसे मर जाने दो—पुत्री! मैं इसे भूल जाना अपना सौभाग्य मानता हूँ, मगर तुम जैसी पवित्र-हृदया, धर्मशीला और

सती साध्वी को अपने घर से नहीं निकाल सकता। तो, मुझे क्षमा करो—पुत्री !'

मगर वसुमति उससे कहने लगी—'पिता जी ! मैं समझती हूँ कि इस प्रकार आप धर्म की अवहेलना कर रहे हैं। आप मेरी धर्म-दात्री मा के उपदेश और मेरी बातों को भूल रहे हैं। तो मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप ऐसा न करें। फिर, जब इस घर से मैं स्वयं ही जा रही हूँ—और बिकना भी मैं खुद ही चाहती हूँ—तो इसलिये आप क्यों दुःख करते हैं और आप पापी फिर किस प्रकार बन सकते हैं। तो आप अपने मन के इस भ्रम को दूर कर दीजिये। मेरे विषय में माताजी को जो सन्देह हो गया है, बस, उसको मन से दूर कर देना मेरा कर्तव्य है—तो आप स्वयं के साथ मुझे बाजार में ले चलिये—और मुझे बेचकर माता जी के सन्देह और कष्ट को दूर कीजिये। मैं माता जी की आज्ञा को अपने शीश पर धारण करूँ—यह मेरा परम् पवित्र कर्तव्य है—तो मुझे अपने कर्तव्य का पालन करने दीजिये—पिता जी ! मुझे बिककर माताजी से उऋण होने दीजिये पिता जी !'

और पुत्री मगर मार्ग-दर्शिका वसुमति के इन शब्दों को सुनकर रथी उत्तर में कुछ भी न कह सका। वह केवल इतना ही कहकर—'जो आज्ञा मंगलमयी ! मुझे शिरोधार्य है।' चुप हो गया।

तब स्थिरमना वसुमति ने सभी को अभिवादन किया, सभी से बिदा माँगी और इस प्रकार सभी का आशीर्वाद प्राप्त कर

अन्त मे वह अपनी धर्म-माता के समीप पहुँच वोली—'माता ! आपकी असीम अनुकम्पा के लिये मैं आपकी चिर-कृतज्ञ रहूँगी। अपने प्रति आपकी दया के फल-स्वरूप ही मैं अपने कार्य को प्रारम्भ कर-सकने मे समर्थ हो सकी—और अव आपके द्वारा समय पर सचेत किये जाने पर ही मैं अपने पथ पर आगे वढ़ सकूँगी—तो, मैं आपकी इस महती कृपा को किस प्रकार भूल सकती हूँ। फिर, आपके प्रति मुझसे अनेक भूलें हुई है—तो, माता !, मेरी उन भूलों के लिये आप मुझे क्षमा करना।' और अपने कथन को इस प्रकार समाप्त कर वह रथि-पत्नि के सम्मुख झुक-सी गई।

फिर, अपने धर्म-पिता को साथ मे लेकर वह अपने मार्ग पर आगे वढ़ी। वह घर से निकलकर चली—तो, सभी के दिल का दर्द कराह उठा। अपनी पुत्री को खोने के कारण वे सभी रो पडे। मगर रथि-पत्नि अभी भी यही सोच रही थी—ओह ! इस तनिक-सी लड़की मे कितनी चालाकी भरी है। जव यह देखा—कि अव मेरी वास्तविकता सभी पर प्रगट हो जायेगी—मेरा भेद सभी पर खुल जायेगा—तो, चलदी, मगर सभी पर जादू-सा करके ! अपने प्रति सभी की करुणा को जगाकर ! मगर प्रयत्न करने पर भी वह मुझे अपने वश मे न कर सकी—और यह मेरा सौभाग्य है—अन्यथा, अगर इस समय मैं उसकी वातों मे आ-जाती तो यह सत्य है कि एक दिन मुझे वह इस घर मे से निकलवा देती। और स्वामी तो उसके वश मे हैं ।

मगर उस समय, अपने धर्म-पिता रथी के साथ कौशाम्बी के बाजार के मार्ग पर आगे बढ़ती हुई वसुमति सोच रही थी—धर्म-माता ने मुझ पर बड़ी भारी कृपा की जो मुझे समय पर ही सचेत कर दिया—अन्यथा, यह सम्भव हो सकता था कि मैं अपने कार्य के आरम्भ को ही अपने लिये सबकुछ समझ लेती और उसे ही अपने लिये मोक्ष का मन्दिर मान वहीं पर ठहर जाती। फिर, अगर वह दयाकर मुझ पर ऐसा सन्देह न करतीं और इसलिये इतना अधिक क्रोध भी नहीं—तो मेरे धैर्य मेरी सहिष्णुता और मेरे मन में स्थित सम-भाव की परीक्षा ही फिर किस प्रकार होती—हो, मैं तो यही समझती हूँ—कि उन्होंने यह मेरे ऊपर बड़ी भारी कृपा की है—जो मुझे अपने मार्ग पर आगे बढ़ा दिया है। तो यह सत्य ही है—कि माता अपनी सन्तान का कभी भी अपकार नहीं कर सकती। वह सर्वदा उसका उपकार ही करती है।

मगर रथी उस समय अपनी पत्नि के इस कुकृत्य पर मन ही मन बहुत अधिक दुखी हो रहा था।

फिर कुछ ही समय के उपरान्त

जब वे दोनों कौशाम्बी के बाजार में आ पहुँचे—तो, रथी के धैर्य का बाँध टूट गया। वह रो-पड़ा—और दोनों हाथों से अपने मुँह को ढाँप बाजार के चौराहे पर वह एक ओर बैठ गया। मगर वसुमति चौराहे के केन्द्र-स्थल पर खड़ी होकर जोर-जोर से पुकार कर कहने लगी—'सज्जनो! मैं

एक दासी हूँ। आप लोग मुझे खरीदने की कृपा कीजिये।' भाइयो! मैं घर के सभी काम कर सकती हूँ—आप मुझे खरीदिये।'

और उसकी इस पुकार को सुनकर नगर के सभ्रान्त व्यक्ति उसके समीप आये—वे उसके रूप, उसके सुगठित शरीर और उसकी कोमलता को देखकर मन्त्र-मुग्ध से रह गये। वे सोचने लगे—कौशाम्बी मे अब तक हमने अनेक दासियों को विकते हुये देखा है—उनमें से कुछ हमने भी खरीदी हैं, वे अब भी हमारे पास हैं, मगर ऐसी अद्भुत रूप वाली दासी तो हमने अब तक कभी भी नहीं देखी। तो, यह दासी कौन है? कहीं कोई अप्सरा तो नहीं? दासी के वेश में कोई देवी तो नहीं?

और वे स्वयँ ही स्वयँ से ये प्रश्न कर और भी आश्चर्य में डूब गये। तो, अपने इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये उनका हृदय आकुल हो-उठा—और तब, उन्होंने वसुमति से पूछा—'देवी, तुम कौन हो? यहाँ बाजार मे इस प्रकार क्यों खड़ी हो?' वास्तव में वसुमति के मुख के ओज, उसके अनोखे रूप और उसकी सभ्य पुकार के कारण वे उसे दासी कहकर सम्बोधन करने मे हिचके—इसलिये उसे देवी कह कर पुकारना उन्हें रुचिकर जान पड़ा।

और उनके इन प्रश्नों के उत्तर मे वसुमति ने उनसे कहा—'सज्जनो! मैं एक दासी हूँ। घर के सभी कामों को मैं भली प्रकार से कर सकती हूँ। कोई मुझे खरीदले—इसीलिये मैं यहाँ पर खड़ी हूँ।'

तभी एक ने उनमें से उससे पूछा—'मगर तुम्हारा मूल्य क्या है, देवि !'

'बीस लाख सोनैया—भाई !'

और उसका मूल्य को सुनकर वह चुप रह गया। मन की इच्छा मन ही में रह गई—और वसुमति के रूप और गुणों की प्रशंसा करता हुआ वह वहाँ से चला गया। फिर, धीरे धीरे, उसका अनुकरण करते हुए वे अन्य भी !

तो वसुमति ने फिर आवाज ऊपर उठाई—'भाइयो ! मैं दासी हूँ। मुझे आप खरीदने की कृपा कीजिये। मैं यहाँ पर बिकने के लिए खड़ी हूँ, मुझे खरीदिये !'

और अबकी बार उसके इन शब्दों को नगर की सर्वश्रेष्ठ वेश्या ने सुना—और दूर ही से वसुमति के रूप को देखकर वह ठगी-सी रह गई। फिर, वसुमति के समीप में पहुँचकर वह उसे एकटक देखती हुई सोचने लगी—आह ! इस दासी का सौन्दर्य तो मेरी कल्पना से भी अधिक है। मैं तो अब तक इसी घमंड में चूर रहती थी—कि मैं बहुत अधिक सुन्दर हूँ। मगर इसे देखकर वास्तव में आज मेरा वह अभिमान चूर-चूर हो गया है। ऐसे अपूर्व सौन्दर्य से युक्त नारी को तो मैंने आज तक कभी भी न देखा। तो इसे प्राप्त कर मैं अपना बुढ़ापा बहुत सुख के साथ व्यतीत कर सकती हूँ। तो मैं समझती हूँ आज का दिन मेरे लिये जीवन का सबसे बड़ा शुभ दिन है, जो मैं आज ऐसे रूप के दर्शन कर सकी। तो मैं यह ठीक ही सोचती हूँ—कि मेरा भविष्य मेरे वर्तमान से

भी अधिक उज्ज्वल है। आज मैं अपने यौवन के बल पर समूची नगरी को अपनी ओर आकर्षित करती हूँ—तो, कल—जब मुझे बुढ़ापा आ घेरेगा—और मेरी ओर कोई झाँक कर भी न देखेगा—तो, मैं अपनी इस उत्तराधिकारिणी के अभूतपूर्व रूप की शक्ति की सहायता से मृत्यु-पर्यन्त निर्द्वन्द होकर कौशाम्बी के हृदय पर राज्य करूँगी।

और यह सोचकर वह अपार अनान्द में निमग्न हो क्षण भर के लिये सुख के अथाह सागर मे डूब-सी गई। मगर तभी लोगों की क्षण-क्षण मे बढती हुई भीड़ को देखकर वह अपने मन में यह आशका कर काँप-सी उठी—कि कहीं इस दासी को कोई और न खरीद ले—और मेरा सुन्दर भविष्य बालू की दीवाल की भाँति ढह कर भूमिसात हो जाये। वह जागने पर स्वप्न के समान प्रतीत होने लगे।

तो, वसुमति से उसने पूछा—'तू कौन है—और किस प्रयोजन के निमित्त यहाँ पर खड़ी है?'

और भूमि की ओर देखती हुई वसुमति बोली—'मैं दासी हूँ। बिकने के लिये यहाँ पर खड़ी हूँ।'

'मगर तेरा मूल्य कितना है?'

'बीस लाख सोनैया।'

और उसके मूल्य को सुनकर वेश्या हँस पड़ी—फिर, बोली—'अप्सराओं का-सा यह रूप—और मूल्य केवल बीस लाख स्वर्ण-मुद्रायें। मैं सोचती हूँ, बहुत कम मूल्य है—तेरा।

बीस लाख सोनैया तो तेरे एक ही अंग पर निछावर की जा सकती हैं। तो आकर मेरे साथ मेरी पालकी में बैठ—अपने अभिभावक को अपने साथ ले चल—मैं घर पहुँच कर बीस लाख सोनैया उसे दे दूंगी। शीघ्रता कर, मुझे देर हो रही है।' और इतना कहकर वह लापरवाही की हँसी हँस चुप हो गई।

और उसकी इस बात को सुन वसुमति ने अपने मन में सोचा—मेरी भावी स्वामिनी आखिर है—कौन ? जिसने बीस लाख सोनैया मेरे मूल्य को जो सभी की दृष्टि में बहुत अधिक है, इतनी सरलता और उदारता के साथ स्वीकार कर लिया। और उसने अपनी आँखें उठाकर उसकी ओर देखा—तो उसके शरीर को बहुमूल्य वस्त्रों तथा अलङ्कारों से आच्छादित देख उसने सोचा—यह है तो कोई बहुत ही धनवान, मगर इसके साथ जाने से पू मुझे इससे अपने कार्य के विषय में पूछ लेना बहुत आवश्यक है। कहीं मैं इसके किसी कार्य को न कर सकी—तो इसे बहुत दुःख होगा—और मैं अपनी ओर से उसे इसके साथ विश्वासघात समझूँगी—तो यह पाप मुझसे अनायास ही बन पड़ेगा—और मैं किसी के साथ विश्वासघात करना अनुचित समझती हूँ।

तो वसुमति ने उससे कहा—'माता ! मैं आपके साथ चलने के लिये सहर्ष तैयार हूँ। मैं जब यहाँ पर बिकने के लिये ही खड़ी हूँ—तो जो कोई भी मेरा मूल्य मेरे पिता को देगा—मैं उसी के साथ चली जाऊँगी। तो मुझे आपके साथ चलने में तो कुछ भी हिचकिचाहट नहीं है; मगर चलने से

पूर्व मैं आप से केवल इतना ही पूछना चाहती हूँ कि आप किस प्रयोजन के निमित्त मुझे खरीद रही हैं। मुझे आपके यहाँ रह कर कौन-कौन से काम करने होंगे। माता! अपने कर्त्तव्य को भली प्रकार से समझ लेने—फिर, उसके औचित्य को स्वीकार कर लेने पर ही मैं आपके साथ चल सकती हूँ।'

और उसके इन शब्दों को सुनकर वेश्या ठहाका मारकर हँस पड़ी-और बोली—'तू अभी बहुत भोली है, बच्ची, बहुत भोली! बुरा न मानना, मुझे तेरी सरलता पर ही हँसी आई है। अरी बावली! तुझे मैं किसलिये खरीद रही हूँ—मेरा वह प्रयोजन सर्वविदित है। उसे सब कोई जानता है। मगर तू नहीं जानती–तो सुन—मैं तुझे अपने यहाँ दासी बनाकर नहीं, अपने घर की—फिर, समूचे नगर के हृदय की रानी बनाकर रक्खूँगी। तो, यह तेरा सौभाग्य ही है कि तुझे मैं खरीद रही हूँ। तो, मेरे यहाँ रहकर तेरा केवल एक ही कार्य होगा—ससार के सभी सुखों का नित्य भोग करना। भला, तेरा यह कमनीय रूप—क्या, दुखों की ज्वाला मे भस्म हो जाने के लिये है? नहीं—बच्ची, नहीं। वह सदा सुख भोगने के लिये ही तुझे दिया गया है। तो शीघ्रता कर—और मेरी रत्न-जड़ित इस पालकी में मेरे पास आकर बैठ—भोली बालिका! हीरे की पहिचान जौहरी को ही होती है। प्रथम बार वही उसका मान करता है—और फिर, समूचा ससार! तो, अब विलम्ब न कर।'

इस प्रकार वसुमति के सम्मुख प्रलोभन के दाने डाल, आशा-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखती हुई वह वेश्या चुप हो गई।

और वेश्या के शब्दों के अर्थ को भली प्रकार से समझ लेने पर धर्म-शीला वसुमति ने उससे कहा—'माता! क्षमा कीजिये। मैं आपके वरे रस की पूर्ति न कर सकूँगी। फिर, किसी के साथ विश्वास-घात करना मैं पाप समझती हूँ—सो, आप अपने घर पधारें। मैं आपके साथ न चल सकूँगी।

मगर वेश्या इतनी शीघ्रता से अपने अभियान की आशाओं पर पानी नहीं फेर सकती थी—और वह कहने लगी—'तू तो मेरी कल्पना से भी अधिक भोली है, बच्ची! तभी, तूने इस प्रकार का उत्तर मुझे दिया है—अन्यथा, कोई भी चतुर स्त्री अपने सुखों में इस प्रकार आग लगा देने की बात कभी न सोचेगी। कोई भी स्त्री जब वह रानी बनाई जा रही हो—तो, दासी बनी रहना ही न चाहेगी। तो इतनी भोली न बन, भोली बालिका! संसार मनुष्य के इस आवेदन को उसकी मूर्खता समझता है—तो उसकी दृष्टि में तू मूर्ख न बन—और मेरी उत्तराधिकारिणी बनकर तू इस संसार के हृदय पर अपना साम्राज्य स्थापित कर—और शीघ्र ही तू देखेगी—कि वह संसार तेरे सम्मुख नत-मस्तक होगा। तेरे चरणों को चूमने में गौरव का अनुभव करेगा। तू उसके मान का मर्दन करेगी—तू उसका तिरस्कार करेगी; मगर तब भी वह तेरे सम्मुख हाथ बाँधे खड़ा रहेगा। तो भोली बालिके! मेरे साथ चल—और मेरे यहाँ दासी बनकर नहीं—तू रानी बनकर रह।

मगर वसुमति पर वेश्या की इन बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा—और वह बोली—'माता! मेरे और आपके दो

अलग मार्ग हैं। फिर, उन दोनों की दिशाएँ भी दो हैं—तो, वे परस्पर कभी भी न मिल सकेंगे। आप संसार पर अपना राज्य स्थापित करना श्रेयष्कर समझती हैं, मगर मैं, इसके विपरीत, उसकी सेवा करना अपना धर्म समझती हूँ। तो, ऐसी दशा में, मैं आपका कार्य किस प्रकार सिद्ध कर सकती हूँ—तो, मैं आपकी हानि का कारण बनकर आपके साथ जाना उचित नहीं समझती। हाँ, यदि आप मेरी बात मान सदाचार-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना उचित समझें, संसार को मोहान्धकार से उबारने का प्रण करें—तो, मैं आपके साथ प्रसन्नता पूर्वक चल सकती हूँ, अन्यथा आप मुझे क्षमा करें।'

और उसकी इस बात को सुन वेश्या ने सोचा—यह लड़की केवल रूपवती ही नहीं है, गुणवती और बुद्धमती भी है—फिर, परस्पर वार्तालाप करने में भी कुशल और मधुर भाषण करने वाली—तो, किसी भी प्रकार अगर मैं इसे प्राप्त कर सकी—तो, मेरी प्रतिष्ठा और भी अधिक बढ़ जायेगी। मेरा बुढापा सुख-पूर्वक व्यतीत होगा—और इसके द्वारा मैं मृत्यु-पर्यन्त नगरी के हृदय पर इसी प्रकार अधिकार जमाये रहूँगी, जिस प्रकार आज। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि कोई भी नारी इसके रूप, गुण और बुद्धि के सम्मुख ठहर नहीं सकती—तो, मुझे किसी भी तरह इसे प्राप्त करना ही होगा—और अपने मन में यह निर्णय कर वह वसुमति से कहने लगी—'मुझे तो तू सदाचार का उपदेश दे रही है, मगर अपनी ओर तू नहीं देखती—तू कितना उसका पालन करती है। मेरे पास दासियों की कमी नहीं है, लड़की। मैं

तो करुणा के वशीभूत होकर ही तुझ पर कृपा करके, मुझे खरीद लेने की इच्छुक हो गई थी—और वह भी मुँह-माँगे मूल्य पर। तू देख सकती है, मेरी कुछ दासियाँ तो मेरे साथ यहीं पर खड़ी हैं। तो मुझे दासियों की कमी नहीं है। मैंने तो यह सोचकर कि चलो एक और भी सही पड़ी रहेगी—इसमें मेरा क्या बनता-बिगड़ता है, मगर इससे आप बेचारे का काम चल जायेगा—मुझे खरीद लेने की बात सोची थी।'

और एक क्षण मौन रहकर वह फिर कहने लगी—'और जब तू सदाचार की बात कहकर, यहाँ पर उपस्थित नगरी के भद्र पुरुषों के सम्मुख मेरा अपमान कर रही है—तो तू मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे—कि तू किस सीमा तक इसका पालन करती है? क्या सत्य बोलना और उसके अनुसार ही कार्य करना सदाचार के अन्तर्गत नहीं आता? तो क्या यह सत्य नहीं है—कि कुछ ही क्षणों पूर्व मेरे साथ चलने का तूने मुझे वचन दिया था और अब तू अपने वचन का पालन नहीं करना चाहती। तो अगर ऐसी ही सत्य आचरण करने वाली है तू तो चल मेरे साथ—और अपने वचनों का पालन कर।' और वसुमति से इस प्रकार कहने के उपरान्त उसने गर्व-भरी दृष्टि से यहाँ पर उपस्थित व्यक्तियों की ओर देखा। काम-धर्म से अभिप्रेरित जो उस वेश्या की कृपा-दृष्टि के भूखे रहते थे अपने लिये इसे शुभअवसर जान, उसकी बात का समर्थन करते हुए खिलखिलाकर हँस पड़े। साथ ही उन्होंने यह भी सोचा—कि अगर यह रूपकुमारी इस वेश्या के घर पहुँच जायगी—तो हम भी इसे भोग सकेंगे—तब, वह

हमारी होगी—तो, स्वार्थ के वशीभूत होकर वे कहने लगे—'ऐ लड़की! देवी सत्य कहती हैं—तू अपने वचन का पालन कर और इनके साथ चली जा। सुख मे रहेगी। तू भाग्यों वाली है—तभी . ।'

और स्वार्थी जनता का बल प्राप्त कर वह वेश्या वसुमति से बोली—'देखती है, लड़की! कौशाम्बी के प्रतिष्ठित व्यक्ति क्या कह रहे हैं। अब सत्य भाषण और सत्य आचरण मैं करती हूँ—या तू। फिर, सत्य की अवहेलना तू कर रही है—या मैं? तो, अब मैं तुझसे यह स्पष्ट कहे देती हूँ कि तुझे मेरे साथ चलना ही होगा। तेरी इच्छा या अनिच्छा की मुझे अब बिल्कुल भी चिन्ता नहीं है। अब मैं तुझे अपने साथ लेकर ही जाऊँगी। तो सोच ले लड़की! अगर तू इच्छा से मेरे साथ नहीं चलेगी—तो, मैं बल-प्रयोग करके तुझे अपने घर ले जाऊँगी।'

मगर उसके इस अनर्गल प्रलाप का वसुमति पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। ना उसे दुख हुआ और न सुख! ना उसने इसलिये उस पर क्रोध ही किया और न अपने स्वार्थ की सिद्धि की ही कोई बात सोची। वास्तव मे, धर्मशीला वसुमति स्वार्थपरता, सुख और दुख आदि भावनाओं से बहुत दूर थी। अहिंसा, सत्य और समभाव को उसने अपने मन मे स्थिर कर लिया था—और अखण्ड ब्रह्मचर्य का बल उसके पास था—फिर, वह प्रगति के पथ पर निरन्तर अग्रसर हो रही थी—और अपनी मा की आज्ञा का पालन कर उसे चरितार्थ कर देना उसके जीवन का एकमात्र ध्येय था। और

वह शाश्वत वेग से उस ओर जा रही थी—अपने लक्ष्य की ओर।

तो वेश्या के प्रश्न के उत्तर में उसने कहा—'माता! अनेक व्यक्ति एक बात का समर्थन करते हैं, इसलिये वह बात ठीक है। वह सत्य है। उसे सभी को स्वीकार करना चाहिये। आपकी इस दलील को मैं स्वीकार नहीं करती। मेरा विश्वास है, किसी विशेष अवसर पर स्वार्थ के वशीभूत होकर अनेक व्यक्ति भी किसी असत्य को सत्य कहकर उसका समर्थन कर सकते हैं। तो व्यक्तियों की सम्मति सत्य और असत्य की सच्ची कसौटी नहीं है। तो माता! मेरी मान्यता है, धर्म के मूलभूत सिद्धान्त ही किसी बात को सत्य और असत्य ठहराने में सत्य रूप से समर्थ हैं—व्यक्ति नहीं—और न व्यक्तियों का समाज ही। तो आपके जीवन का ध्येय मेरी सम्मति में लोक-हित की दृष्टि से अकल्याणकारी है। आपके विचार जन-कल्याण की भावना के विपरीत हैं—तो, सत्य की वे अवहेलना करते हैं—और इसीलिये मैं आपके साथ जाने में असमर्थ हूँ। क्षमा कीजिये—माता जी।

और वेश्या के सम्मुख परम् धार्मिक और सत्य से ओत-प्रोत यह नम्र-निवेदन कर वसुमति चुप हो गई। और तभी, उसने सुना—अपनी बात के समर्थन में उन शब्दों को जो उसके सम्मुख इकट्ठी हुई भीड़ में से कुछ धर्मशील व्यक्तियों के द्वारा बार-बार से उच्चारित किये जा रहे थे। मगर वह मौन ही रही। और वेश्या उसके इस युक्तियुक्त उत्तर को सुनकर जल उठी—और उसके समर्थक भी! वो वेश्या से

जोर देकर अब केवल यही कह रहे थे—'देवी! इस लड़की को, बल का प्रयोग कर, अपने घर ले जाओ। अब हम इसे आपके घर पर देखना चाहते हैं।' और उनकी इस बात को सुनकर उस वेश्या ने भी यही उचित समझा—तो, उसने अपनी दासियों को आज्ञा देते हुए कहा—'देखती क्या हो, पकड़ लो, इस लड़की को! इसे बाँधकर मेरे घर ले चलो।'

और अपनी स्वामिनी की आज्ञा को शिरोधार्य कर दासियाँ वसुमति की ओर झपटीं—मगर रथी की कड़ी आवाज को सुनकर वे ठिठक गईं। रथी, जो अब तक अपने स्थान पर चुपचाप बैठा हुआ यह सब-कुछ देख-सुन रहा था—वेश्या की इस आज्ञा को सुन गर्म हो उठा—और पुत्री वसुमति की ओर बुरी नीयत से बढ़ती हुई उसकी दासियों को देख, कड़ककर उनसे बोला—'दासियो! उसी स्थान पर ठहरो—अन्यथा पुत्री से हाथ लगाने पर मेरी तलवार तुम्हारे सौ-टूक कर देगी।' उसने म्यान से तलवार बाहर निकाल ली—और नगी तलवार को अपने हाथ मे ऊँची किये वह वेश्या के समीप आकर उससे कहने लगा—'क्या तुमने पुत्री को अरक्षित समझ लिया था—जो, तुमने बलात् उसे पकड़ कर अपने घर ले जाने की आज्ञा अपनी दासियों को दी। तो, यह तुम्हारी भूल थी। जब तक उसका पिता जीवित है—कोई उसकी पुत्री से हाथ भी न लगा सकेगा। उसे बाँधकर घर ले जाने की बात तो बहुत दूर की है। हाँ, अगर पुत्री प्रसन्नता से तुम्हारे साथ जाये—तो, मैं कुछ भी न कहूँगा।'

और सुनो। लड़की मेरे साथ जाने के लिये स्वयं ही तैयार हो गई है। उसने अपने पिता की तलवार को म्यान में बन्द करवा दी है—तो अब आप सब शान्त हो जाइये। मैं हँस रही हूँ—तो, मेरी खुशी में आप सब भी हँसिये।'

और वेश्या के मुख से निकले हुए इन शब्दों को सुन उसके समर्थक प्रसन्नता से भर ठहाका मारकर हँसे—तो, उनकी हँसी की आवाज से कौशाम्बी के बाजार का चौराहा गूँज उठा। और वसुमति का पक्ष लेने वाले किंकर्तव्य-विमूढ़ ठगे-से खड़े रह गये। मगर सहसा ही वह वेश्या की उस बात पर विश्वास न कर सके—और सत्य बात जान लेने के लिये उन्होंने वसुमति की ओर देखा। तो धर्म शीला वसुमति के मुख पर वही ओज वही शान्ति और वही पवित्रता के दर्शन कर वह मन ही मन उसकी प्रशंसा कर फूले नहीं समाये।

और उस समय पवित्र-हृदया वसुमति अपने धर्म की शक्ति का अवलम्ब न कर आत्म-बल के भरोसे अपने नेत्रों को बन्द किये हुए शान्त और निश्चल भाव से खड़ी थी। उसे विश्वास था—धर्म की शक्ति उसकी पवित्रता की रक्षा करेगी। उसका आत्म-बल वेश्या के इस असत्य कथन को सत्य में परिणित न होने देगा। और वह धीरज को धारण कर मौन थी।

और भ्रमित बुद्धि वाली वेश्या उसे पकड़ने के लिए अब की बार स्वयं आगे बढ़ी—तो पास ही वाले वृक्ष की डालों पर बैठे हुए बन्दर उसकी ओर झपटे। वे उस पर टूट पड़े। वे उसे नोचने और खसोटने लगे—और यह देखकर उसकी दासियाँ और उसके समर्थक, अपने शरीर का मोह कर

बहुत दूर भाग गये। लोभी और स्वार्थी वे—न उसकी रक्षा कर सकते थे—और न उन्होंने की ही।

मगर द्वेष से रहित मन वाली वसुमति उसके करुण-क्रन्दन को न सह सकी—और वह उसकी सहायता के लिये उसके समीप आई। तो, देवी-स्वरूपा वसुमति को देखकर बन्दर भाग खड़े हुए—वे, उसी वृक्ष पर जा बैठे। मगर बन्दरों के द्वारा नोचे, खसोटे और काटने के कारण वेश्या असह्य पीडा का अनुभव कर, भूमि पर पड़ी हुई, बिलख-बिलख कर रो रही थी। और उसकी ऐसी दशा को देखकर वसुमति का हृदय दया से भर उठा—उसने उसका हाथ पकड उसे भूमि पर से उठाया—और वसुमति के पवित्र हाथ का स्पर्श कर पीड़ा के कारण चीखती-चिल्लाती वेश्या उसी क्षण स्वयँ को स्वस्थ और सानन्द अनुभव करने लगी। और वसुमति उससे बोली—'माता! आपको बहुत कष्ट हुआ। बन्दरों ने आपको बहुत दुख दिया। मगर वे बुद्धि से रहित हैं ‥ ।'

और उस समय, सहानुभूति से ओत-प्रोत वसुमति के ये शब्द, उस वेश्या के हृदय मे आनन्द का स्रोत बहा रहे थे। तो, कृतज्ञता को अपने नेत्रों मे बसाये, वसुमति की ओर एकटक देखती हुई वह सोच रही थी—एक मैं हूँ, जिसने अब तक कभी किसी की भलाई के सम्बन्ध मे सोचा तक भी नहीं—फिर, करने की बात तो बहुत बाद की है। इसके विपरीत, सर्वदा यही कोशिश की–कि सभी को मूर्ख बनाये रहूँ—जिससे केवल मेरा ही भला हो। और एक यह है, जिसने अपकार के बदले में मेरे साथ उपकार किया है।

और रथी की इस बात को सुनकर वेश्या डर गई—फिर, वह अपना मतलब सिद्ध करने के लिये चिल्लाकर लोगों से कहने लगी—'देखो ! देखो ! यह व्यक्ति कौन है ? यह मुझे मार डालना चाहता है। अब मैंने आप सभी के सम्मुख इस लड़की के साथ सौदा तय किया था तब यह न जाने कहाँ चला गया था मगर अब मैं इस लड़की को घर ले जाना चाहती हूँ—तो, यह नंगी तलवार अपने हाथ में लेकर मुझे मारने के लिये मेरे सामने आकर खड़ा हो गया है। मेरी रक्षा करो। रक्षा करो !'

और वेश्या के इन शब्दों को सुनकर उसकी बात का अनुमोदन करने वाले चीख उठे—तो, उनकी चीख का उत्तर देने के लिये वसुमति के समर्थक भी ! और इस तरह पहिले उन दो दलों के बीच वाग्युद्ध छिड़ा मगर शीघ्र ही परस्पर वे मरने और मारने पर उतारू हो गये—तो, चुपचाप खड़ी हुई वसुमति ने सोचा—मुझे पिताजी को समझाना ही होगा। क्रोध के वशीभूत हुई वेश्या तो मेरी बात को नहीं मानेगी मगर पिताजी पर मुझे विश्वास है, वह मेरी बात को मान जायेंगे—और यह अशान्ति दूर हो जायेगी। हिंसा का वातावरण जो उत्पन्न हो गया है, वह शान्ति में बदल जायेगा।

और अपने मन में यह निश्चय कर वसुमति अपने धर्म-पिता रथी से कहने लगी—'पिता जी ! शान्त होइये। आपके क्रोध करने के कारण वातावरण में अशान्ति उत्पन्न हो गई है—तो क्रोध का त्याग कीजिये। सात्विक प्रकृति के मनुष्य को क्रोध नहीं करना चाहिये। मैं समझती हूँ, क्रोध करके तो आप माता की शिक्षा को भूलने का प्रयत्न कर रहे हैं और

इस प्रकार यहाँ पर हिंसा करने के लिये लोगों को प्रेरित कर रहे हैं—तो, तलवार को म्यान मे रखने की कृपा कीजिये।'

मगर रथी बोला—'पुत्री! तू यह क्या कह रही है? क्या इस अवसर पर मैं कायर की भाँति चुपचाप खडा हुआ केवल तमाशा देखूं और इस दुष्टा को अपनी पुत्री के साथ मनमानी करने दूं?'

'पिता जी! क्षमा कीजिये। आप मेरे शब्दों का गलत अर्थ लगा रहे है। आप यह भूल रहे हैं—कि ऐसे कठिन अवसर पर ही मनुष्य के धीरज, उसकी सहिष्णुता तथा उसकी क्षमा शीलता की परीक्षा होती है—अन्यथा अनुकूल अवसर रहने पर तो सभी धैर्यवान्, सभी सहिष्णु और सभी क्षमा-शील हैं। तो, ऐसे कठिन अवसर भी जो अपने इन सिद्धान्तों पर दृढ़ रहे और क्रोध न करे—वास्तव मे, वही मनुष्य सच्चे अर्थों में धैर्यवान्, सहिष्णु और क्षमा-शील है। तो, आप क्रोध का सर्वदा त्याग कीजिये। आप विश्वास कीजिये—मेरी रक्षा के लिये तलवार की बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं है।'

और अपनी धर्म-शीला पुत्री की इस बात को सुनकर श्रद्धावान् रथी ने अपनी तलवार म्यान मे रख ली—और अपने क्रोध का त्याग कर वह मौन हो गया। तो, तलवार के डर से डरी हुई वेश्या खिलखिलाकर हँस पडी। फिर, अपनी स्वार्थमयी बुद्धि की सहायता से पवित्र आचरण करने वाली वसुमति की इस बात का गलत अर्थ लगाकर वह अपने समर्थकों से कहने लगी—'भद्र नागरिको! शान्ति धारण करो

और सुनो। वसुमती मेरे साथ जाने के लिये स्वयं ही तैयार हो गई है। उसने अपने पिता की तलवार को म्यान में बन्द करवा दी है—तो अब आप सब शान्त हो जाइए। मैं हँस रही हूँ—तो मेरी खुशी में आप सब भी हँसिये।'

और वेश्या के मुख से निकले हुये इन शब्दों को सुन उसके समर्थक प्रसन्नता से भर ठहाका मारकर हँस—तो, उनकी हँसी की आवाज से कौशाम्बी के बाजार का चौराहा गूँज उठा। और वसुमति का पक्ष लेने वाले किंकर्तव्य-विमूढ़ ठगे-से खड़े रह गये; मगर सहसा ही वह वेश्या की इस बात पर विश्वास न कर सके—और सत्य बात जान लेने के लिये उन्होंने वसुमति की ओर देखा। तो धर्मशीला वसुमति के मुख पर वही ओज वही शान्ति और वही पवित्रता के दर्शन कर वह मन ही मन उसकी प्रशंसा कर फूले नहीं समाये।

और उस समय पवित्र-हृदया वसुमति अपने धर्म की शक्ति का अवलम्बन न कर, आत्म-बल के भरोसे अपने नेत्रों को बन्द किये हुये शान्त और निश्चल भाव से खड़ी थी। उसे विश्वास था—धर्म की शक्ति उसकी पवित्रता की रक्षा करेगी। उसका आत्म-बल वेश्या के इस असत्य कथन को सत्य में परिणित न होने देगा। और वह धीरज का धारण कर मौन थी।

और भ्रमित बुद्धि वाली वेश्या उसे पकड़ने के लिये अब की बार स्वयं आगे बढ़ी—तो पास ही खड़े हुए की उन्हीं पर तैनै हुए बन्दर उसकी ओर झपटे। वे उस पर टूट पड़े। व उसे नोंचन और काटने लगे—और यह देखकर उसकी दासियों और उसके समर्थक अपने शरीर का मोह कर

बहुत दूर भाग गये। लोभी और स्वार्थी वे—न उसकी रक्षा कर सकते थे—और न उन्होंने की ही।

मगर द्वेष से रहित मन वाली वसुमति उसके करुण-क्रन्दन को न सह सकी—और वह उसकी सहायता के लिये उसके समीप आई। तो, देवी-स्वरूपा वसुमति को देखकर बन्दर भाग खड़े हुए—वे, उसी वृक्ष पर जा बैठे। मगर बन्दरों के द्वारा नोचे, खसोटे और काटने के कारण वेश्या असह्य पीड़ा का अनुभव कर, भूमि पर पड़ी हुई, विलख-विलख कर रो रही थी। और उसकी ऐसी दशा को देखकर वसुमति का हृदय दया से भर उठा—उसने उसका हाथ पकड़ उसे भूमि पर से उठाया—और वसुमति के पवित्र हाथ का स्पर्श कर पीड़ा के कारण चीखती-चिल्लाती वेश्या उसी क्षण स्वयं को स्वस्थ और सानन्द अनुभव करने लगी। और वसुमति उससे बोली—'माता! आपको बहुत कष्ट हुआ। बन्दरों ने आपको बहुत दुख दिया। मगर वे बुद्धि से रहित हैं ... ।'

और उस समय, सहानुभूति से ओत-प्रोत वसुमति के ये शब्द, उस वेश्या के हृदय में आनन्द का स्रोत बहा रहे थे। तो, कृतज्ञता को अपने नेत्रों मे बसाये, वसुमति की ओर एकटक देखती हुई वह सोच रही थी—एक मैं हूँ, जिसने अब तक कभी किसी की भलाई के सम्बन्ध मे सोचा तक भी नहीं—फिर, करने की बात तो बहुत बाद की है। इसके विपरीत, सर्वदा यही कोशिश की—कि सभी को मूर्ख बनाये रहूँ—जिससे केवल मेरा ही भला हो। और एक यह है, जिसने अपकार के बदले मे मेरे साथ उपकार किया है।

बन्धनों से मेरी रक्षा कर मुझे जीवन-दान दिया है। फिर जिसके कोमल कर के स्पर्श-मात्र से ही मैं क्षण भर में अपनी असह्य वेदना से मुक्त हो गई हूँ—तो, निश्चय ही यह कोई सती है। अगर मैं इस पवित्र-आत्मा की बात को पहिले ही मान लेती—तो, यह दंड मुझे क्यों भोगना पड़ता। क्यों, मुझे पाप भरा यह कृत्य करना पड़ता।

इस प्रकार मन ही मन अपने ही प्रति घृणा का अनुभव कर अन्त में वह देवी-स्वरूपा वसुमति से कहने लगी—'हे सती! हे देवि! आज आपकी कृपा से मेरे मन का अंधकार दूर हो गया है। मुझे सत्य का प्रकाश मिल गया है—तो, इस निर्मल प्रतिभा से अब मैं सभी-कुछ स्पष्ट देख पाती हूँ। और देवि! आपका वचन सही है, कि आपकी आज्ञा का पालन कर अब अपना शेष-जीवन मैं सत्य आचरण करती हुई व्यतीत करूँगी।' फिर, बहुत ही करुण स्वर में वह बोली—'आपके प्रति जो दुर्व्यवहार मुझ से बन पड़ा है, वह मेरे अज्ञान के कारण—देवि! मुझे क्षमा करना।' और वह चुप हो गई।

फिर धर्मशीला वसुमति से आज्ञा प्राप्त कर वह अपने घर वापिस चली गई—भविष्य में सदाचार पूर्वक अपना शेष जीवन व्यतीत करने के लिये! जीवन को शुद्ध और पवित्र बना लेने के लिये!

और इस तरह आत्म-बल का परिचय प्राप्त कर वसुमति को उस समय अपनी मां के वे शब्द याद हो आये—जो, एक दिन उसने उससे कहे थे—"आत्मिक बल—पुत्री! शस्त्र-बल से बहुत अधिक शक्तिशाली है। यह सत्य है—

वसुमति ! आत्म-बल के सम्मुख शस्त्र-बल झक मारा करता है।
ये दो प्रकार के बल जब परस्पर टकराते हैं—तो, पहिले-
पहिले कुछ दिनों तक तो जरूर ऐसा प्रतीत होता है—पुत्री,
जैसे शस्त्र-बल अपने विपक्षी आत्म-बल पर हावी होरहा है,
मगर वास्तव मे ऐसा नहीं होता—और अन्त मे विजय आत्म-
बल की ही होती है। तो, आत्म-बल पुत्री, शस्त्र-बल से बहुत
अधिक शक्तिशाली है। वह ससार मे सबसे बड़ा बल है।
और वह अद्वितीय है, वह अनोखा है, पुत्री !' और अपनी मा
के इन शब्दों को याद कर, वह श्रद्धा से झुक-सी गई। फिर,
अपने कर्त्तव्य के पालन के निमित्त उसने पुकार कर कहा—
'भाइयो ! मैं एक दासी हूँ। मैं घर के सभी काम कर सकती
हूँ, आप मुझे खरीदने की कृपा कीजिये।'

तभी, वेश्या-सम्बन्धी समूची नगरी मे व्याप्त वसुमति की
कीर्ति-गाथा को सुन, अपने मन मे वह विचार करता हुआ—
कि ऐसी सती पुत्री यदि मेरे घर आ-जायेगी– तो, मुझे अपने
धर्म के कार्यों मे उसकी सहायता प्राप्त होगी—फिर, मेरा घर
भरा-पुरा और पवित्र हो जायेगा—कौशाम्बी का धनावा नाम
का सेठ उसके समीप आया। और वसुमति को देख वह
सोचने लगा—इस कन्या की आकृति इस बात की स्पष्ट द्योतक
है कि यह गुणवती, पवित्र विचारों वाली और परम् धार्मिक
है—तो इससे मुझे अपने धर्म के कार्यों के करने मे पूर्ण
सहायता प्राप्त होगी। और तभी उसने वसुमति से कहा–'पुत्री !
मेरा नाम धनावा है—और मैं इसी नगरी मे रहता हूँ। तुम्हें
अपने साथ ले जाने के लिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ– तो,

बेटी! मुझे बताओ—कि तुम्हारे बदले में मुझे कितना धन देना होगा। क्या बीस लाख सोनैया? मैंने तो नगरी के व्यक्तियों से यही सुना है। यदि यह सत्य है—तो पुत्री! तुम मेरे साथ चलो—मैं इतना धन देने के लिये सहर्ष तैयार हूँ।'

और सामने खड़े हुये धनावा सेठ के मुख से अपने लिये 'पुत्री' शब्द का सम्बोधन सुन वसुमति ने सोचा—यह भद्र पुरुष निश्चय ही धार्मिक और सत्य आचरण करने वाले व्यक्ति हैं; मगर तो भी इनके साथ जाने से पूर्व मुझे इनके मन की भावना के विषय में भी कुछ ज्ञान लेना आवश्यक है—और यह सोचकर वह बोली—'पिता जी! यह सत्य है कि मेरे बदले में आप को बीस लाख सोनैया मेरे पिता को देनी होंगी। और आप मेरी इस बात में भी विश्वास कीजिये—कि मैं आपके साथ चलने के लिये भी सहर्ष तैयार हूँ। मगर इससे पूर्व कि मैं आपके घर पर आऊँ—मेरी एक प्रार्थना है, आपसे—कृपाकर बतलाने का कष्ट कीजिये—आप अपने किस प्रयोजन के निमित्त मेरे लिये इतना धन व्यय कर रहे हैं? आपके घर पर पहुँच कर मुझे कौन-कौन से कार्य करने होंगे? अपने इन प्रश्नों का उत्तर मिलने पर ही—पिता जी मैं यह निर्णय कर सकूँगी—कि मैं आपके साथ चलने के लिये तैयार हूँ—या नहीं।

और वसुमति के इन प्रश्नों को सुन धनावा का आनन्द हँस पड़ा। उसने सोचा—यह लड़की निश्चय ही किसी भले घर की कन्या है। अपने धर्म के प्रति इसकी निष्ठा अटूट है। यह

आत्म-कल्याण के लिये पूर्ण रूप से सजग है—और वह बोला—'पुत्री! तुम्हारे इन प्रश्नों को सुनकर मैं बहुत अधिक प्रसन्न हुआ हूँ। मैं मानता हूँ, आज जबकि पुरुष-समाज चरित्र की दृष्टि से पतन के गहरे गर्त्त में गिर गया है—तुम जैसी पवित्र-हृदया पुत्री को किसी भी पुरुष पर सहसा ही विश्वास नहीं कर लेना चाहिये। इसके विपरीत तुम-जैसी सती को बहुत सोच-समझ कर ही इस तरह का कोई निर्णय करना उचित है। तो, तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देने में—पुत्री! मुझे सात्विक सुख का-सा अनुभव हो रहा है—और मैं खुश हूँ। तो सुनो—बेटी! मैं आत्मा का कल्याण करने वाले धर्म में विश्वास करता हूँ—इसलिये, तुम्हें मेरे घर पर रहकर केवल धर्म-सम्बन्धी कार्य ही करने होंगे। केवल धर्म-सम्बन्धी! तो, मेरी इस बात में भी विश्वास करो, पुत्री! मैं केवल इसीलिये तुम्हें अपने साथ ले जा रहा हूँ कि तुम धर्म के कार्यों में मेरी सहायता करो। फिर, मुझे विश्वास है कि मेरे विषय में तुम यह जानकर प्रसन्न होगी कि मैं बारह व्रतधारी श्रावक हूँ। मेरे घर पर आया हुआ अतिथि खाली हाथों नहीं लौट जाना चाहिये—यह मेरा नियम है। तो, अतिथि की सेवा करना ही तुम्हारा मुख्य काम होगा।'

और अन्त में वह कहने लगा—'पुत्री! तुम विश्वास करो, मेरा यह कथन अक्षरश सत्य है—मेरे घर पर रहते हुए तुम पूर्ण रूप से सुरक्षित थे। तुम अपने ब्रह्मचर्य का नियम-पूर्वक पालन करना—उसमें तुम्हारे सम्मुख किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न होगी।'

और धनावा सेठ के ये शब्द वसुमति को बहुत प्रिय लगे। तो प्रसन्नता में भर वह अपने धर्म-पिता रथी से बोली—'पिताजी! धैर्य को धारण करने से मनुष्य को सुख ही मिलता है—यह बात आज पूर्णरूप से चरितार्थ हो गई। मैं इन पिता के साथ जाने के लिये सहर्ष तैयार हूँ। आप इनसे बीस लाख सोनैया लेकर मां को दे दीजियेगा—जिससे उनका मन प्रसन्न हो जावे—और वह स्वर्ग को सुख अनुभव करें।'

मगर पुत्री की इस बात को सुनकर रथी रो पड़ा—और बोला—'पुत्री! यह पाप-भरा कृत्य मुझसे न हो सकेगा। तुम जैसी आदर्श पुत्री को बेचने का यह निन्दनीय कर्म मैं नहीं कर सकूँगा। एक यह हैं, जो तेरे लिये बीस लाख सोनैया प्रसन्नतापूर्वक खर्च कर रहे हैं—और एक मैं इतना नीच बन जाऊँ—कि अपनी पुत्री को बेचने का पाप-कर्म करूँ। नहीं पुत्री! मैं ऐसा नहीं कर सकूँगा।' और यह कहकर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

तो वसुमति उसे सान्त्वना प्रदान करती हुई कहने लगी—'पिताजी! यह आप क्या कह रहे हैं? आप मुझे कब बेच रहे हैं? मैं तो स्वयं ही बिक रही हूँ। सो, मेरी बात पर विश्वास कर आप धीरज धारण कीजिये।'

और तब वह धनावा सेठ से बोली—'पिताजी! मैं आपके साथ चलने में गौरव का अनुभव करती हूँ। मैं आपके साथ चलती हूँ। और वसुमति के इन शब्दों को सुन धनावा सेठ

पुलकित हो उठा। तो, वह आगे-आगे चला—और वसुमति और रथी उसके पीछे-पीछे।

फिर, कुछ ही क्षणों के उपरान्त,

अपने घर पर पहुँचकर जब उसने बीस लाख सोनैया रथी के सम्मुख रखीं—तो, रथी बहुत ही दुखी स्वर में उससे कहने लगा—'सेठ जी! अपनी पुत्री के बदले में आपका यह धन मैं स्वीकार करने मे असमर्थ हूँ। मैं तो अपनी पुत्री का कहना मान इसे आपके यहाँ पहुँचाने के लिये आपके साथ चला आया—और अब मैं जा रहूँ। प्रिय भाई! अगर यह आपके यहाँ रहना ठीक समझती है—तो रहे—मुझे इसमे कुछ भी आपत्ति नहीं है। पुत्री के लिये मैं और आप समान ही हैं।' और यह कहकर वह उठ खड़ा हुआ।'

उस समय उसके नेत्रों में जल भरा था।

और उसकी इस बात को सुन धनावा सेठ उसके मुख की ओर देखता ही रह गया।

मगर वसुमति रथी से बोली—'पिताजी! जब आप मेरे इन पिता को भाई कहकर सम्बोधित कर रहे हैं—तो, अब आपके और इनके बीच क्या-कुछ और शेष है, जो अभी भी आप अपने भाई के उपहार को अस्वीकार करते हैं। मैं जानती हूँ, आप जैसे धर्म-शील व्यक्ति पुत्री को बेचने-जैसा पाप-कर्म कभी स्वप्न में भी नहीं कर सकते—और न यह आप कर रहे हैं। तो, अपने भाई के मान की रक्षा करने के

लिये आप इस धन को स्वीकार कीजिये— और मेरे इस पिता का यह उपहार घर पहुँचकर माताजी को दीजिये। वह इस उपहार को प्राप्त कर प्रसन्न होंगी—मुझे विश्वास है।'

फिर, धनावा सेठ से उसने कहा—'पिताजी! बीस लाख सोनैयों का वजन बहुत अधिक होता है—मेरे पिताजी इतने भारी बोझ को अकेले ही किस प्रकार उठा लेजा सकते हैं—तो आप इस धन को पिताजी के घर पहुँचाने का प्रबन्ध कर दीजिये।'

और एक ही क्षण के बाद

बीस लाख सोनैयों को रथी के घर पहुँचा देने का प्रबन्ध कर धनावा सेठ रथी से बोला—'अपनी इस पुत्री के कारण आज से मैं और आप परस्पर भाई-भाई हैं—और हम दोनों भाइयों के बीच यह एक पुत्री है—तो, आप दुखी क्यों हो रहे हैं? प्रिय भाई! यह घर भी आप ही का है। आप मेरी बात में विश्वास कीजिये—और अपने दुख का त्याग कीजिये।' और इस प्रकार कहने के उपरान्त उसने रथी को अपने हृदय से लगा लिया।

तो पुत्री वसुमति का प्रणाम और धनावा सेठ का सम्मान स्वीकार कर रथी बीस लाख सोनैयों के साथ अपने घर लौट आया। तब उसके मन में न दुख था और न सुख—तो सम भाव उसके हृदय में स्थिर हो गया था—और वह दुख-सुख की भाव-व्यंजना से बहुत परे था—बहुत दूर।

दर्शन-लाभ

लिये आप इस धन को स्वीकार कीजिये—और मेरे इन पिता का यह उपहार घर पहुँचकर माताजी को दीजिये। वह इस उपहार को प्राप्त कर प्रसन्न होंगी—मुझे विश्वास है।

फिर, धनावा सेठ से उसने कहा—'पिताजी! बीस लाख सोनैयों का वजन बहुत अधिक होता है—मेरे पिताजी इतने भारी बोझ को अकेले ही किस प्रकार उठा लेजा सकते हैं—तो आप इस धन को पिताजी के घर पहुँचाने का प्रबन्ध कर दीजिये।'

और एक ही क्षण के बाद

बीस लाख सोनैयों को रथी के घर पहुँचा देने का प्रबन्ध कर धनावा सेठ रथी से बोला—'अपनी इस पुत्री के कारण आज से मैं और आप परस्पर भाई-भाई हैं—और इन दोनों भाइयों के बीच यह एक पुत्री है—तो, आप दुखी क्यों हो रहे हैं? प्रिय भाई! यह घर भी आप ही का है। आप मेरी बात में विश्वास कीजिये—और अपने दुख का त्याग दीजिये।' और इस प्रकार कहने के उपरान्त उसने रथी को अपने हृदय से लगा लिया।

तो पुत्री वसुमति का प्रणाम और धनावा सेठ का सम्मान स्वीकार कर रथी बीस लाख सोनैयों के साथ अपने घर लौट आया। तब उसके मन में न दुख था और न सुख—एक सम भाव उसके हृदय में स्थिर हो गया था—और वह दुख-सुख की भाव-व्यंजना से बहुत परे था—बहुत दूर।

सौत बन जाये। तो, इस ओर से मुझे सतर्क रहना होगा। मुझे सावधानी बर्तनी होगी।

फिर, इस समय अपने सन्देह के विषय में कुछ भी कहना मेरी मूर्खता होगी—तो, इस समय तो इस ओर से चुप रहना ही उचित है, और पति की आज्ञा के अनुसार ही इसके साथ व्यवहार करना। और इस समय यही ठीक भी है।

तो, पति के मौन होते ही, वह कहने लगी—'स्वामी! अचानक और अनायास ही ऐसी गुणवती पुत्री को प्राप्त कर इस समय मैं खुशी से फूली नहीं समा रही हूँ। यह आप सत्य ही कहते हैं—कि हमारा घर बिना सन्तान के बहुत ही सूना-सूना लगता था—फिर, हमारे अगर कोई सन्तान होती भी—तो, कौन जानता है कि वह गुण-हीन होती या गुणवान्—और उसके पालन-पोषण करने में जो हमें श्रम करना पड़ता, वह अलग से। तो, यह बहुत ही अच्छा हुआ कि आप पली-पलाई और गुणवती कन्या को अपने घर ले गये—और इसे प्राप्त कर मैं बहुत खुश हूँ।'

फिर, पति को दिखलाने के लिये वह वसुमति से बोली—'अरे! बेटी, अभी तक खड़ी क्यों हो? बैठो—पुत्री!'

और जब उसकी आज्ञा को शिरोधार्य कर वसुमति जहाँ खड़ी थी, उसी स्थान पर बैठने लगी—तो, उसने फिर कहा—'पुत्री! यहाँ मेरे पास आकर बैठो—वहाँ, जमीन पर ही क्यों बैठती हो?' और उसकी इस बात को सुन कर वसुमति उसके पास जाकर बैठ गई।

तो, धनावा सेठ अपनी पत्नि मूला से कहने लगा—'हमारे प्रिये प्रिये! आज का दिन बहुत ही शुभ है—जो ऐसी आदर्श पुत्री को हम आज प्राप्त कर सके हैं। तो तुम बहुत ही भाग्य-शालिनी हो—मैं तो यही समझता हूँ—क्योंकि पति अपनी पत्नि के अच्छे भाग्य के बल पर ही लक्ष्मी को प्राप्त करता है—और यह पुत्री-स्वरूपा लक्ष्मी मुझे आज मिली है—वो तुम्हारे अच्छे भाग्य के फल-स्वरूप ही! फिर, हमारे कोई सन्तान थी भी नहीं—और अगर होती भी—तो विश्वास है, हमारे इतने अच्छे भाग्य कहाँ थे जो हमारी सन्तति इस पुत्री-जैसी गुणवती और अखण्ड ब्रह्मचर्य का नियम-पूर्वक पालन करने वाली होती—तो पुत्री के गुणों के विषय में आज मैं तुमसे अभी क्या कहूँ—मुझे विश्वास है, धीरे-धीरे, दिन प्रतिदिन इस कन्या के सभी गुण तुम पर प्रगट हो जायेंगे।' और वसुमति के परिचय-स्वरूप पत्नि से इस प्रकार कहने के उपरान्त वह चुप हो गया।

मगर वसुमति की अवस्था और उसके रूप को देखकर, पति की उपर्युक्त बातों को सुनती हुई, मूला अपने मन में सोच रही थी—मैं जानती हूँ, पति मेरे धर्म-परायण हैं। वह अपना जीवन धर्म का अनुष्ठान करते हुए ही व्यतीत करते हैं, मगर स्त्री का पुरुष पर इस विषय में विश्वास कर लेना यह स्त्री की मूर्खता है। जब बड़े से बड़े महात्मा तक नारी के कमनीय रूप को देखकर अपनी वर्षों की तपस्या में अनायास ही आग लगा बैठे हैं—तो मेरे पति तो फिर भी गृहस्थी हैं। हो सकता है, यह लड़की जो आज पुत्री है—कल को मेरी

सौत बन जाये। तो, इस ओर से मुझे सतर्क रहना होगा। मुझे सावधानी वर्तनी होगी।

फिर, इस समय अपने सन्देह के विषय में कुछ भी कहना मेरी मूर्खता होगी—तो, इस समय तो इस ओर से चुप रहना ही उचित है, और पति की आज्ञा के अनुसार ही इसके साथ व्यवहार करना। और इस समय यही ठीक भी है।

तो, पति के मौन होते ही, वह कहने लगी—'स्वामी! अचानक और अनायास ही ऐसी गुणवती पुत्री को प्राप्त कर इस समय मैं खुशी से फूली नहीं समा रही हूँ। यह आप सत्य ही कहते हैं—कि हमारा घर बिना सन्तान के बहुत ही सूना-सूना लगता था—फिर, हमारे अगर कोई सन्तान होती भी—तो, कौन जानता है कि वह गुण-हीन होती या गुणवान्—और उसके पालन-पोषण करने में जो हमें श्रम करना पड़ता, वह अलग से! तो, यह बहुत ही अच्छा हुआ कि आप पली-पलाई और गुणवती कन्या को अपने घर ले गये—और इसे प्राप्त कर मैं बहुत खुश हूँ।'

फिर, पति को दिखलाने के लिये वह वसुमति से बोली—'अरे! बेटी, अभी तक खड़ी क्यों हो? बैठो—पुत्री!'

और जब उसकी आज्ञा को शिरोधार्य कर वसुमति जहाँ खड़ी थी, उसी स्थान पर बैठने लगी—तो, उसने फिर कहा—'पुत्री! यहाँ मेरे पास आकर बैठो—वहाँ, जमीन पर ही क्यों बैठती हो?' और उसकी इस बात को सुन कर वसुमति उसके पास जाकर बैठ गई।

और सेठ अपने मन में सन्तोष का अनुभव करता हुआ अन्तः पुर से बाहर निकल आया।

फिर कई दिनों के बाद, एक दिन—

वसुमति की कार्य-कुशलता, उसकी कार्य करने की क्षमता और उसके सत्य आचरण से प्रसन्न हुये धनावा सेठ ने उससे पूछा—'पुत्री ! तेरा नाम क्या है ?'

'पिता जी ! आप मेरे पिता हैं—तो, जो भी नाम आप मुझे देंगे—वही मेरा नाम होगा। वसुमति ने बहुत ही कोमल स्वर में उत्तर दिया।

और वसुमति के इस उत्तर में अपनत्व और सार्वभौम की भावना के दर्शन कर धनावा सेठ खिल उठा—और कुछ क्षणों तक सोचने के पश्चात् वह बोला—'पुत्री ! वेश्या-सम्बन्धी तेरी कथा के विषय में मैं उसी दिन सुन चुका हूं फिर, तेरे प्रति वेश्या के कटु व्यवहार की बात भी मैंने उसी दिन सुनी थी—तो सीधे-सादे शब्दों में तेरे उस दिन के चरित्र का अर्थ मैं यही समझता हूं—कि तेरा स्वभाव—पुत्री ! चन्दन के वृक्ष के समान है। जो अपने काटने वाले को भी बदले में अपनी सुगन्ध और शीतलता ही प्रदान करता है। और तू भी अपने शत्रु को अपनी ओर से सुख ही पहुँचाना अधिक श्रेयस्कर समझती है—तो तेरे इसी गुण के कारण मैं तेरा नाम आज 'चन्दन बाला' रखता हूँ।' और अपनी पुत्री का उसके स्वभाव के अनुसार 'चन्दन बाला' नाम रख वह प्रसन्नता से उछल-सा पड़ा।

मगर पिता के मुख से अपनी प्रशसा के इन शब्दों को सुन वसुमति सेठ के सम्मुख झुक-सी गई। मानो, उसने पिता धनावा द्वारा दिये इस नाम को आभार-सहित स्वीकार किया।

और इस प्रकार पुत्री की मौन-स्वीकृति प्राप्त कर, सेठ ने दूसरे ही क्षण, अपनी पत्नि मूला, घर के नौकर-चाकर आदि सभी से कहा—'अपनी शीतल स्वभाव वाली पुत्री का नाम मैंने 'चन्दन वाला' रक्खा है। आज से तुम सब उसे इसी नाम से पुकारा करो।'

और धर्म-परायण महाराज दधिवाहन तथा आदर्श माता और सती धारिणी की एक-मात्र पुत्री वसुमति अपने धर्म-पिता धनावा सेठ के यहाँ पहुँचकर वसुमति से चन्दनवाला बन गई—और इतिहास में वह अपने इसी नाम से अमर है।

गृह-कार्यों मे दक्ष चन्दनवाला एक आदर्श कन्या थी। पिता धनावा सेठ के घर मे वह अतिथि-सत्कार आदि धर्म-कृत्य तो करती ही, मगर घर के अन्य कामों को भी वह उसी उत्साह और लगन् के साथ करती, जिस उत्साह और लगन् के साथ वह पिता रथी के घर किया करती थी। खूबी के साथ उसके द्वारा किये गये कामों को देख-देखकर पिता धनावा सेठ और घर के सभी नौकर-चाकर मुँह भर-भरकर उसकी प्रशसा किया करते—और उसकी बड़ाई करते हुये वे कभी अघाते न थे। उसका नम्र-स्वभाव घर के सभी व्यक्तियों का मन आनन्द से भर देता, मगर अपनी दासियों के मुख से उसकी प्रशसा सुन मूला मन ही मन उससे जल-उठती। उसका सन्देह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता।

और इस प्रकार पल-पल और दिन-दिन बढ़ते हुये सन्देह की जड़ें जब कुछ ही दिनों के बाद उसके मन में बहुत गहराई तक पहुँच गईं—तो सन्देह के कारण उत्पन्न हुआ क्रोध अब बात-बात पर प्रगट होने लगा। मूला को चन्दनबाला अब बिल्कुल भी न सुहाती—तो अब वह उसे हर समय झिड़कने लगी। मगर अपने शीतल स्वभाव के कारण चन्दनबाला उससे कुछ भी न कहती—और अपनी धर्म-माता मूला की कटु से कटु बात को वह शान्ति-पूर्वक सह लेती। अपनी धर्म-माता के प्रति उसके मन में लेश-मात्र भी कटुता उत्पन्न न होती।

चन्दनबाला की सहिष्णुता और उसके प्रति अपनी स्वामिनी का दुर्व्यवहार को घर के नौकर-चाकर अब रोज ही और हर समय देखते—तो उनका दिल कराह उठता। वे सोचते—कितनी अच्छी है—यह लड़की। जिसकी समता किसी भी बात में कोई दूसरी कन्या कर नहीं सकती। मगर फिर भी स्वामिनी हर समय न जाने क्यों उसके पीछे ही पड़ी रहती है। तो जान पड़ता है, आजकल उनका स्वभाव बहुत ही खराब हो गया है। अच्छा तो कुछ पहिले भी न था; मगर अब तो उसकी हद हो गई है।

तो एक दिन मूला की मुँह-लगी दासी ने उससे पूछा—“क्षमा करना स्वामिनी! आज आपसे कुछ निवेदन करना चाहती हूँ। कुछ दिनों से मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे आप कुछ अस्वस्थ हैं—क्योंकि आजकल आपका स्वभाव बिल्कुल ही बदल गया है। फिर बेचारी चन्दनबाला के प्रति

तो आप बहुत ही कटु हो उठी हैं—जबकि उस जैसी हममे एक भी नहीं है। चन्दनबाला की कार्य-कुशलता और कठिन परिश्रम को देखकर सभी हैरान हो जाते हैं, मगर आप उससे हर समय अप्रसन्न ही रहती हैं।'

और दासी की यह युक्ति-युक्त बात मूला को अच्छी न लगी—और वह उससे कहने लगी—'ज्ञात होता है, तू भी उसकी लुभावनी बातों में आकर अपनी बुद्धि गवाँ बैठी है—तभी, आज इस प्रकार की बातें मुझसे बना रही है। पागल! तू उसके विषय मे जानती ही क्या है? वह कौन है? किस जाति की है, कौनसे कुल मे पैदा हुई है, उसके मा-बाप का क्या नाम है—बता, उसके सम्बन्ध की इन बातों को क्या तू जानती है? तुम सब तो उसकी भोली शक्ल पर ही रीझ रही हो, उसकी कार्य-कुशलता को देखकर ही मुग्ध हो रही हो, मगर वह कैसी है और किसलिये वह इतना परिश्रम करती है, इस भेद को तो मैं ही अच्छी तरह से जानती हूँ। और ठीक भी है, जिसके लगेगी—जानेगा वही। तुम तो अब भी दासी हो—फिर भी दासी ही रहोगी। अगर स्वामिनी बदल जायेगी—तो, इससे तुम्हारा क्या बनता-बिगड़ता है। मगर मैं स्वामिनी से दासी बनूँगी—तो, चिन्ता तो मुझे है। दुख तो मुझे है।'

और एक क्षण मौन रहने के बाद वह फिर कहने लगी—'क्या तू नहीं देखती है कि आजकल गृहस्वामी उससे कितना प्रेम करते हैं। कैसे उसके पीछे पागल हो रहे हैं। और उनका पागल होना ठीक भी है। कुछ मुफ्त तो उसे लाये नहीं हैं—

उस पर गाड़ी-भरा सोना लुटाकर लाये हैं। तो, बीस लाख सोनैया खर्च करने का कुछ तो लाभ उठायें। फिर, वह जवान है, रूपवती है—साथ ही अविवाहित भी! तो स्वामी को वह अच्छी न लगेगी तो क्या मैं अच्छी लगूँगी। मैं तो समझ रही हूँ दासी स्वामिनी बनेगी और स्वामिनी दासी।

और अन्त में वह बोली—'लेकिन मूला इतनी मूर्ख नहीं है, जितनी वह मुझे समझती है। मैं भी उसे इस घर से निकालकर ही दम लूँगी।

मगर उसकी इस बात को सुन दासी उसे समझाती हुई उससे कहने लगी—'स्वामिनी! आप मुझ पर विश्वास कीजिये—जो कुछ मैं आपसे कहती हूँ, वह सत्य है। मैं कहती हूँ—कि चन्दनबाला के प्रति आपकी यह शंका निर्मूल है। वह पवित्र विचारों वाली एक आदर्श सती है। फिर, उसके सम्बन्ध में जिस बात की आप शंका कर रही हैं—वैसी कोई भी बात मैंने अथवा किसी और ने आज तक कभी भी नहीं देखी। अगर ऐसी होती तो मैं आपसे आकर जरूर कहती। फिर, गृह-स्वामी इसीलिये उससे इतने अधिक खुश हैं—कि वह शीतल स्वभाव वाली एक आदर्श सती है। वह सभी कामों को समय पर और खूबी के साथ करती है। तो आपका यह सन्देह मिथ्या है—और आप इसका त्याग कर दीजिए। स्वामिनी! किसी के सम्बन्ध में अकारण ही सन्देह करना—और फिर उसके प्रति ईर्ष्यालु हो उठना—तथा उसको दुःख देना यह पाप है। तो आप मेरी बात पर विश्वास कर

अपने ऊपर से इस पाप-बोझ को उतार फेंकिये। चन्दनबाला एक आदर्श सती है, आप विश्वास कीजिये।'

और अपने मन के विपरीत दासी की इस बात को सुनकर मूला उस पर झल्ला उठी—और स्वामिनी को कुपित हुआ देख दासी बेचारी मुँह लटका कर वहाँ से चली गई।

तो, मूला सोचने लगी—अब और अधिक दिनों तक केवल प्रतीक्षा करते रहने से ही काम नहीं चलेगा—तो, अब प्रतिपल केवल इसी काम मे जुट जाना होगा। देखती हूँ, उसका जादू अब समूचे घर को अपने वश मे कर चुका है। जब मेरी यह दासी तक, जिस पर मैं पूर्णरूप से भरोसा करती थी, उसके गीत गाने मे ही अपना कल्याण समझने लगी है—तो, इस दुष्टा का फन्द अब बहुत शीघ्रता से काटना होगा। अन्यथा मूला को दासी बनने मे अब अधिक दिनो की देर नहीं है।

और अपने मन मे यह निर्णय कर वह चन्दनबाला के पीछे अब परछाई के समान लगी।

तो, दो ही चार दिनों के बाद, एक दिन—

उसने छिपकर देखा सद्य स्नाता चन्दनबाला उस समय धूप मे खड़ी हुई अपने केश सुखा रही थी – कि अचानक धनावा सेठ भी उसके पास आ-पहुँचा–और बोला—'पुत्री! जान पड़ता है, तुम अभी अभी स्नान करके आई हो। क्या कुछ गर्म जल शेष है—अगर है–तो, पुत्री! थोड़ा मुझे भी दो। बाहर से आने के कारण पैरों में बहुत ही धूल लगी है।'

और धर्म-पिता की आज्ञा को शीश पर धारण कर चन्दन बाला शीघ्र ही गर्म जल बैठने के लिये चौकी तथा पैर धोने का पात्र लेकर उस स्थान पर लौटी—और बोली—'पिता जी! आप इस चौकी पर बैठिये—मैं अभी-अभी आपके श्री चरणों को धोये देती हूँ।'

'नहीं—नहीं बेटी! यह किस प्रकार हो सकता है। तू मेरी पुत्री है—फिर पिता होकर मैं अपने पैरों को तुमसे कैसे धुला सकता हूँ। तू मेरे पैरों का स्पर्श करेगी—तो मुझे पाप लगेगा—बेटी! और जानते हुये अगर मैं ऐसा करूँगा—तो इस पाप से मुझे मुक्ति भी न मिलेगी। फिर पैरों का धोना—यह छोटा काम समझा जाता है—पुत्री! तो तुम-जैसी सती-साध्वी अपनी बेटी से मैं ऐसा तुच्छ कार्य किस प्रकार करा सकता हूँ। तू जल का पात्र मुझे दे मैं स्वयं ही अपने पैरों को धो-लूँगा।'

और अपने पिता की इस बात को सुन चन्दनबाला कहने लगी—'और पिता जी! यह भी खास ही है—कि आप पुत्र और पुत्री में भेद की दीवार खड़ी कर रहे हैं। जब पुत्र अपने पिता के चरणों की सेवा कर सकता है—तो पुत्री क्यों नहीं? जब पुत्री के द्वारा चरण-स्पर्श कर लेने से पिता को पाप लगता है—तो पुत्र के द्वारा यही कार्य करने पर क्यों नहीं? क्या पुत्र के समान पुत्री भी माता-पिता की सन्तान नहीं है? अगर है—तो पुत्र और पुत्री में आप यह भेद क्यों करते हैं। पुत्र को तो कोई अधिकार आप देते हैं, मगर पुत्री को नहीं—तो क्या यह न्याय-संगत है? क्या माता-पिता के लिये पुत्र और पुत्री दोनों ही समान नहीं है?'

'तो, आप ऐसा क्यों कहते हैं कि 'पुत्री ! पिता होकर मैं अपने पैरों को तुझसे कैसे धुलवा सकता हूँ। तू मेरे पैरों को स्पर्श करेगी—तो, मुझे पाप लगेगा—बेटी !' तो, ऐसी बात न कहिये, पिताजी ! माता-पिता के द्वारा पुत्र और पुत्री में किसी भी प्रकार का भेद मानना—यह अपनी सन्तान के प्रति उनका अन्याय है, पिता जी ! और अन्याय धर्म-संगत नहीं हुआ करता। तो, आप यह पाप-बोझ अपने ऊपर न रखिये—पिता जी !'

'फिर, सेवा-कार्य मे भी किसी प्रकार भेद मानना—यह भी दोष-पूर्ण उक्ति है। सेवा-धर्म को समझने वाला व्यक्ति किसी भी सेवा-कार्य में ऊँच-नीच का भेद स्थापित नहीं करता—पिता जी ! अगर वह ऐसा करता है—तो, इसका अर्थ है, वह व्यक्ति सेवा-धर्म को भली प्रकार से नहीं जानता। वह अपने उस धर्म से पूर्ण-रूप से परिचित नहीं है। तो, मुझे अपने चरणों को धोने की आज्ञा दीजिये।'

और अपनी बुद्धिमती पुत्री के इस तर्क को सुन धनावा सेठ निरुत्तर हो गया। वह चन्दनबाला द्वारा लाई हुई चौकी पर बैठ गया—और अपने दोनों पैर उसने पैर धोने वाले पात्र में रख लिये।

और सेवा-धर्म के मर्म को समझने वाली चन्दनबाला अपने धर्म-पिता के चरणों को श्रद्धा के साथ खूब मलमल कर धोने लगी। तो, शरीर हिलने के कारण उसके खुले हुये कोमल केश उसके मुख पर छा-गये—और यह देखकर पिता ने सोचा—अपने दोनों हाथ घिरे रहने के कारण, पुत्री मुख पर से बालों को हटाने मे असमर्थ है, मगर उसके केशों ने उसकी

आँखों को ढक लिया है—तो इसलिये उसे कष्ट तो अवश्य ही हो रहा होगा—और अपने मन में यह विचार कर सेठ ने स्नेह के वशीभूत हो, पुत्री के मुख पर आये हुये उसके केशों को अपने हाथ से हटा दिया। और पुत्री के कष्ट का निवारण कर पिता का पवित्र हृदय सन्तोष के साथ हँस पड़ा।

मगर इस दृश्य को देखकर मूला जल उठी। और उसने सोचा—मेरा सन्देह सत्य हो गया—फिर इससे अधिक और मुझे क्या-कुछ देखना बाकी है? और तभी उसके कलुषित मन में उसने कहा—कुछ भी नहीं मूला! और उसके मन की इस बात को सुन उसका मस्तिष्क बोला—अब तो कार्य करना बाकी है, मूला! फिर जो-कुछ भी करो, वह शीघ्र ही होना चाहिये—अन्यथा, जब सब-कुछ हो गया—और फिर तुमने कुछ किया—तो उसका फल तुम्हें कुछ भी न मिलेगा।

और उस दिन सारी उस रात को-अपनी शय्या पर बेचैनी से करवट बदलती हुई मूला सोच रही थी—मगर कोई उपाय कर मैं इसे इस घर में से निकलवा दूँ—तो इससे मुझे कुछ भी लाभ न होगा। अब स्वामी इसमें अनुरक्त हैं—तो, वह इस दूसरे मकान में रख देंगे—और वहाँ पर फिर वह मेरा कुछ भी दबाव न मानेगी। तो यही ठीक है—कि अपने इस कंटक को मैं सदा के लिये ही दूर करूँ। उसे सर्वदा के लिये ही मिटा दूँ। फिर न रहेगा बाँस-और न बजेगी बाँसुरी!

और यह सोचकर मूला ठहर गई—तो उस समय उसे ऐसा भास पड़ा—जैसे उसके सभी कंटक दूर हो गये हैं। और

उसने निश्चय किया—अपने भविष्य को सुखी और सानन्द बनाने के लिये उसे यही करना होगा। अगर मूला को जीवित रहना है—तो, चन्दनबाला को मिटना ही होगा। और मूला अब चन्दनबाला को जरूर मिटायेगी।

फिर, वह सो गई।

और शीघ्र ही, शायद दो-चार दिनों के ही बाद, एक दिन—

वह शुभ-अवसर मूला के हाथ लगा। उस दिन गृह-स्वामी, दो-तीन दिनों मे लौटकर आने की बात कह, किसी दूर के गॉव को चला गया। सेठ के जाते ही मूला ने घर के सभी दास-दासियों को भी उपाय कर इधर-उधर भेज दिया। फिर, घर के मुख्य द्वार के किवाड़ों पर उसने अन्दर से सॉकल चढा दी—और मन मे यह सोचकर—कि आज वह अपने पथ के इस कॉटे को सुविधा-पूर्वक सर्वदा के लिये समाप्त कर देगी—वह खिलखिला कर हॅस पड़ी। फिर, भयंकर रूप धारण कर वह चन्दनबाला के समीप आई—और सख्ती के साथ उसके दोनों हाथों को पकड़ उससे कहने लगी—'दुष्टा! अब तेरी चालाकी इस घर मे नहीं चल सकेगी। बहुत दिनों तक तूने मुझे ठगा है—अब और तेरी ठगाई मे मैं नहीं आ-सकती। मैं जानती हूँ, अपनी मीठी-मीठी बातों मे तूने घर के सभी व्यक्तियों को भरमाया है, मगर मूला को तू बेवकूफ नहीं बना सकती। ऊपर से बेटी बनी है, मगर मन मे सौत बनने की इच्छा को पालती है। आज मैं तेरा गुप्त-वृतान्त जान कर ही रहूँगी। आज मुझे तू सब कुछ सच-सच बता। अगर तू जीवित रहना चाहती है—तो, मुझे बता—तू कौन

है, तेरा वास्तविक नाम क्या है, तू किस कुल में उत्पन्न हुई है—और तेरे मा-बाप का क्या नाम है? तू इस घर में क्यों रह रही है? और इतना कह कर वह क्रोध के कारण हाँफती हुई-सी चुप हो गई।

तो चन्दनबाला अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता के साथ स्पष्ट कहने लगी—'माता! मैं आपकी पुत्री हूँ—और पिता जी ने मेरा नाम चन्दनबाला रक्खा है। फिर, पुत्री होने के नाते मैं अपने माता-पिता के पास इस घर में रहती हूँ—तो आज आप ये किस प्रकार के प्रश्न मुझसे कर रही हैं। मैं समझती हूँ माता को इस प्रकार की शंका अपनी पुत्री पर तो कभी स्वप्न में भी नहीं करनी चाहिये। यह बात माता के लिए शोभा-जनक किस प्रकार हो सकती है!

मगर चन्दनबाला के इन सीधे-सादे शब्दों को सुन मूला के मन की आग और भी भड़क उठी—फिर वह झपट की तरह तड़पकर बोली—'अरे पापिनी! पाप की पुतली! अपनी जबान को बन्द कर—और इधर-उधर की बातें अब और अधिक न बना। मैंने तेरे कुल को भली प्रकार से जान लिया है—अब पुत्री बनकर और अधिक धोखा मुझे नहीं दे सकती। मैं इस सब को अच्छी तरह से जानती हूँ—कि तुम-जैसी पापिनी स्त्रियाँ पिता, भ्राता और चाचा कहकर ही पाप-कर्म किया करती हैं। वे बहुत दिनों तक दुनियाँ को इसी तरह धोखे में रखती हैं। मगर एक-न-एक दिन उनका यह भेद संसार पर प्रकट हो ही जाता है। और कलंकिनी! तेरा भी भेद मुझ पर खुल गया है। मैं सब कुछ जान गई हूँ।'

और बात मे बात जोड कर वह बोली—'वैसे तो मुझे माता और मेरे स्वामी को पिता कहती है, मगर जिसको पिता कहती है, उसी से अपने मुँह पर प्यार से हाथ भी फिरवाती है। और अपनी चालाकी से मुझे धोखे मे रखने की कोशिश कर रही है। तुझे शर्म भी नहीं आती। तुझ पर डूबकर भी नहीं मरा जाता। बेशर्म! बेगैरत!'

मगर माता के इन कटु शब्दों को सुनकर भी चन्दनबाला उसी प्रकार प्रसन्न बनी रही—जिस प्रकार वह सर्वदा रहा करती थी। फिर, शका के निवारणार्थ वह मूला से कहने लगी—'माता! अपने स्वामी और अपनी पुत्री के सम्बन्ध मे आपकी यह शका निर्मूल है। आप विश्वास कीजिये—जिस घटना को लेकर आप अपने मन मे सन्देह को जन्म दे रही हैं—उस घटना के समय मेरे या पिता जी के मन मे किसी भी प्रकार का कोई भी पाप नहीं था। पवित्र-हृदय पिता ने स्नेह के वशीभूत हो अपनी पुत्री का कष्ट-मुक्त करने के विचार से ही मेरे मुँह पर गिरते हुये मेरे बालों को केवल हटा-भर दिया था। तो, क्या अपनी सन्तान को सुख पहुँचाने के लिये माता पिता के द्वारा किया जाने वाला कोई कार्य पाप-भरा कहा जा-सकता है? फिर, अगर आप मेरी परीक्षा लेनी चाहें—तो, मैं उसके लिये सहर्ष तैयार हूँ।'

'अच्छा, दुष्टा! तो, आज मैं तेरी परीक्षा ही लूँगी!' कहती हुई मूला दौड़कर कैंची ले आई और बोली—'बैठ, पापिनी! मेरे सामने बैठ। अपने जिन बालों के जाल मे तूने मेरे पति को फाँस लिया है—मैं आज उस जाल को ही मिटा डालूँगी।'

और प्रसन्न-मुख चन्दनबाला माता के सम्मुख बैठ गई। मूला ने बड़ी तेज़ी के साथ उसके केशों को काट डाला; मगर चन्दनबाला के मुख पर एक लकीर भी न खिंची—वह अभी भी अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता का ही अनुभव कर रही थी। और उसके मुख के इस भाव को लक्ष्य कर मूला का क्रोध आगे बढ़ा। तभी चन्दनबाला उससे कहने लगी—'माता! मैं परीक्षा देकर आपके सन्देह को मिटा सकी यह मेरे लिये प्रसन्नता की बात है। फिर बाल कट जाने से मेरी कुछ हानि भी नहीं हुई—और आपकी शंका का समाधान भी हो गया। मुझे विश्वास है, इसलिये आप भी प्रसन्न होंगी।'

मगर कलुषित हृदय वाली मूला उससे बोली—'ठीक है, केशों के कट जाने से तेरी क्या हानि हुई। थोड़े दिनों में केश तो फिर आ-जायेंगे—फिर तुझ-जैसी कुलटा स्त्री के केश हों न हों तुझे इस बात से चिन्ता ही क्या हो-सकती है। कोई सती स्त्री तो इस बात का दुःख कर सकती थी; मगर तू तो कुलटा है, कुलटा! तो अभी मैं तेरी और भी परीक्षा लूँगी।' और चन्दनबाला से इस प्रकार कहने के उपरान्त मूला बराबर वाले एक कमरे में चली गई।

अभी माता मेरी और भी परीक्षा लेगी—यह सोचकर चन्दनबाला का मुख और भी अधिक खिल उठा।

और कुछ ही क्षणों के उपरान्त

मूला ने चन्दनबाला के सभी वस्त्रों को उतार एक कांछ उसके लगादी—फिर हथकड़ी और बेड़ियों से जकड़ घसीटती

हुई उसे वह भूमिगृह के पास ले आई। मगर चन्दनवाला अपने मुख पर अपूर्व शान्ति को वसाये अभी भी प्रसन्नता का ही अनुभव कर रही थी। और यह देख कर मूला अपनी ही क्रोधाग्नि मे धधक-सी उठी। उसने तलघर की किवाड़ें खोलीं और अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर, बडी वेरहमी के साथ चन्दनवाला को उसमे ढकेल दिया।

फिर, भूमिगृह का द्वार वन्द कर, सन्तोष की सॉस लेकर वह सोचने लगी– स्वामी दो-तीन दिनों के वाद घर लौटेंगे, मगर नौकर-चौकर आज ही और अभी—तो, अभी-अभी या आज ही यह भेद खुल गया—तो, यह कलकिनी जीवित रह जायेगी—और मैं कहीं की भी न रह जाऊँगी—इसलिये उचित और बुद्धिमतापूर्ण यही है कि घर का ताला वन्द कर मैं अपने पिता के घर चली जाऊँ—और स्वामी के आने पर ही घर लौटूँ। और यह निश्चित् है कि दो-तीन दिनों मे यह दुष्टा भूख और प्यास के कारण तडप-तडपकर जरूर मर जायेगी। घर का ताला वन्द देखकर नौकर-चाकर और अतिथि लौट जायेंगे—और जब तक, यह मर पायेगी—तव तक, इस भेद का किसी को भी पता न चल सकेगा।

और अपने मन मे यह निश्चय कर मूला कौशाम्वी मे ही अपने पिता के घर चली गई।

मगर उस समय सती साध्वी चन्दनवाला, हथकडी-वेड़ियों में जकड़ी हुई उस भयकर और गहरे अन्धकार से युक्त तलघर मे पड़ी-पड़ी सोच रही थी—मा, फिर भी मा है। तभी तो माता ने मेरे हाथ-पैरों को काट नहीं डाला, वल्कि उन्हें

समझकर ही सब कर लिया। और अगर मेरे कदम काटे—तो इस बात का विचार करते हुये कि कहीं मेरे सिर में कैंची न लग जाये तो, मा—फिर भी मा है।

फिर, घर से बाहर निकल जाने की भी आज्ञा मुझे नहीं दी—बल्कि, घर के भीतर ही मुझे ऐसा शान्त और निशब्द स्थान प्रदान किया—जहाँ मैं निश्चिन्त होकर भगवान का ध्यान कर सकती हूँ—और किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित होकर मेरे ध्यान को भंग नहीं कर सकती। तो अपनी अच्छी मा का मैं आभार मानती हूँ।

और इस प्रकार मन ही मन मा को श्रद्धाञ्जली अर्पित कर चन्दनबाला ध्यान में मग्न हो गई।

मगर तीन दिनों के बाद चौथे दिन—

मर्मों के हृदय करने वाले उस तलघर में ध्यान में मग्न चन्दनबाला अपने धर्मपिता की करुण पुकार को सुनकर चौंक पड़ी। उस समय धनावा सेठ बहुत ही करुणपूर्ण आवाज में चन्दनबाला का नाम ले-लेकर उसे पुकार रहा था—तो तल घर में से ही वह उससे कहने लगी—"पिताजी! मैं यहाँ पर सकुशल हूँ, आप किसी भी प्रकार की चिन्ता न कीजिये।

और तलघर में से बहुत ही अस्पष्ट सी आती हुई अपनी पुत्री की इस आवाज को सुनकर सेठ उसी स्थान पर ठहर गया। उसने अपने भ्रम के निवारणार्थ पुत्री का नाम लेकर एक बार फिर उसे पुकारा—और अबकी बार भी उसी धीमे

स्वर को सुन उसने शीघ्रता से भूमिगृह का दर्वाजा खोल दिया। मगर तलघर के उस कठिन अन्धकार मे उसे पुत्री न दीख पडी—तो, उसने आवाज दी—'बेटी ! चन्दना !'

'पिताजी ! मैं सकुशल हूँ।'

और अबकी बार पुत्री का स्पष्ट स्वर सुन सेठ तलघर मे उतर गया—फिर, उस घनीभूत अधकार मे टटोलता हुआ चन्दनबाला की आवाज के सहारे, वह पुत्री के समीप पहुँचा। और अपने हाथों की सहायता से यह जानकर कि पुत्री के हाथ-पैर हथकड़ियों और बेडियों से जकड़े हैं—उसने साहस कर पुत्री को अपनी गोदी मे उठा लिया—फिर, टटोलता हुआ वह पुत्री सहित भूमिगृह से बाहर आया—और बाहर के प्रकाश मे उसने देखा—पुत्री के केश काट डाले गये हैं, वस्त्रों के नाम पर केवल उसके एक काछ लगी है—और पुत्री की ऐसी दशा को देखकर सेठ रो-पड़ा—फिर, विलाप करता हुआ वह चन्दनबाला से कहने लगा—'पुत्री ! उस दुष्टा के स्वभाव को मैं अच्छी तरह से जानता हूँ। उसने तुझ-जैसी सती को इतना कष्ट दिया है, अपनी समझ से तो पुत्री, उसने तुझे मार-डालने मे किसी भी प्रकार की कोई भी कसर बाकी नहीं रक्खी है, मगर यह मेरा सौभाग्य ही है कि मैं अपनी आदर्श कन्या, सती साध्वी पुत्री के मुख को एक बार फिर देख सका हूँ।'

'अब मेरी समझ मे सबकुछ आ रहा है—पुत्री ! वह दुष्टा बिना किसी से कुछ भी कहे, मेरे घर का ताला लगाकर, इसीलिये अपने पिता के यहाँ चली गई थी—कि जब तक मैं

लौटकर आऊँ, उस समय तक तू समाप्त होले—फिर, इसी भय के कारण यह घर वापिस भी नहीं आये हैं, बल्कि मेरे द्वारा भेज गये नौकर के हाथ घर की चाबियाँ इसने भेज दीं—आह! पुत्री तू मुझे क्षमा करना। मैं———।

तो, पिता के वचन-वचन में बहते हुए इस विलाप को समाप्त करने और उन्हें ढाढस बँधाने के लिये चन्दनबाला बीच ही में बोलकर अपने धर्म-पिता से कहने लगी—'पिताजी! आप इतना दुख क्यों कर रहे हैं। पिताजी! आप धीरज को धारण कीजिये। आप बुद्धिमान होकर भी जब इतना दुख करेंगे—तो ऐसे अवसर पर अन्य दुखियाओं का क्या हाल होगा—तो पिताजी! आप शोक का त्याग कर धीरज को धारण कीजिये। मैं कुशल-पूर्वक [illegible] पिताजी! फिर, आप इतना दुख क्यों कर रहे हैं।'

मगर चन्दनबाला के इन शब्दों को सुनकर भी धनावा सेठ का रोना बन्द न हुआ—बल्कि, इसके विपरीत वह और भी जोर-जोर से विलाप करने लगा। तो, चन्दनबाला ने सोचा—मेरी इस दशा को देखकर पिताजी को अपार कष्ट हुआ है, इसीलिये मेरे समझाने पर भी उनका रोना बन्द नहीं हो रहा है—तो अब समझाने से काम नहीं चलेगा। अगर कोई कार्य उन्हें बता दिया जावे—तो उस कार्य की ओर उनका ध्यान खिंच जावेगा—और वह अपने इस दुख को भूल जावेंगे। और अपने मन में यह सोचकर वह धनावा सेठ से बोली—'पिताजी! आप रोने में लगे हैं—और मुझे भूख लग रही है। आप रोने के कारण इस समय यह बिल्कुल भूल

गये हैं—कि मैं तीन दिन से भूखी हूँ। कुछ खाने के लिये मुझे शीघ्र ही दीजिये, पिताजी! मगर इस सम्बन्ध में मेरी एक प्रतिज्ञा है। जब आप मुझे तलघर में से निकालकर ला-रहे थे, उस समय मैंने यह प्रण किया था—कि घर में पारणा करने योग्य जो भी वस्तु सर्व-प्रथम आपको दीख पड़ेगी—मैं उसे ही गृहण करूँगी—घर के बाहर से लाई हुई नहीं—और न तुरन्त ही तैयार की हुई कोई नई वस्तु।'

और चन्दनबाला की धारणा सत्य सिद्ध हुई। पुत्री के इन शब्दों को सुनते ही धनावा सेठ रोना-धोना भूल गया। उसे अपने उस समय के कर्त्तव्य का ध्यान आया—और उसने सोचा—वास्तव में, मैं भी कैसा मूर्ख हूँ। पुत्री तीन दिन से भूखी और प्यासी है, उसके शरीर पर वस्त्र नहीं है, वह हथकड़ियों और बेड़ियों में जकड़ी हुई है, मगर मुझे इन बातों का तो कुछ भी ध्यान नहीं है, बल्कि अपने धीरज को गँवाकर व्यर्थ के रोने-धोने में लगा हूँ—और इस प्रकार सोचता हुआ वह रसोई-घर की ओर चला, लेकिन वहाँ पहुँचकर उसने देखा, रसोईघर का ताला बन्द है। और वह कुछ सोचता हुआ सा ठहर गया—फिर, उसने अपने चारों ओर देखा, मगर गृह-स्वामिनी की कृपा के अतिरिक्त और कुछ भी वहाँ पर उसे दिखलाई न दिया। तभी, वह निराश होकर लौटना ही चाहता था कि एक कोने में पड़े हुये उड़द के सूखे बाकले, जो उसके घोड़े के लिये आज से चार दिन पहिले उबाले गये थे, उसे दीख पडे—और उन्हें देखकर उसने सोचा—यह अन्न इस योग्य तो नहीं है कि तीन-चार

दिन के भूखे आदमी को खाने के लिए दिया जाय मगर पुत्री का प्रण रहे—इसलिये यह एक-आध दाना मुँह में डाल लेगी—और तब मैं स्वयं अपने हाथ से उसके लिये उचित भोजन तैयार कर उसकी भूख की ज्वाला को शान्त कर दूँगा।

और यह विचार कर उसने पात्र के अभाव में कुछ सूखे बाकलों को एक सूप में भर लिया। फिर, पुत्री के सम्मुख पहुँच सूप को उसके सामने रखता हुआ वह कहने लगा—'पुत्री! रसोईघर का ताला बन्द है—और उस ताले की ताली उसी दुष्टा के पास है। खाने योग्य कोई भी वस्तु बाहर नहीं है। आज से चार दिन पूर्व घोड़े के लिये ये उड़द के बाकले उबाले गये थे उसके खाने से जो बच गये, वे बचे हुये एक कोने में पड़े हैं, सर्वप्रथम मुझे ये ही दीख पड़े—और तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण हो इसीलिये पात्र के अभाव में इस सूप में रखकर कुछ ये ही बाकले तुम्हारे लिये ले आया हूँ। इनमें से तुम दो चार दाने अपने मुँह में डालकर अपने प्रण को पूर्ण करो। तुम तीन दिन की भूखी हो अधिक खा लेने से तो ये हानि करेंगे।

और एक ही श्वास के साथ वह फिर कहने लगा—मैं तुरन्त ही लुहार को बुलाकर ले आता हूँ। वह तुम्हारी इन हथकड़ी-बेड़ियों को काट देगा—और रसोईघर के ताले को भी तोड़ देगा—तो पुत्री! आज मैं स्वयं तुम्हारे लिये अपने हाथ से भोजन बनाऊँगा। और चन्दनबाला से इस प्रकार कहता हुआ वह घर से बाहर चला गया।

और तीन दिन के उपवास के पश्चात् पारणा करने के लिए, धर्म की दृष्टि से सर्वोत्तम—फिर, सूप में रक्खा हुआ, वह अन्न अनायास ही प्राप्त कर चन्दनबाला अपने सौभाग्य की बात सोच पुलकित हो उठी। फिर, वह विचारने लगी—जब मेरा यह रोज का नियम है—कि मैं अतिथि को बिना खिलाये नहीं खाती—तो, इस समय अत्यधिक भूखी होने के कारण क्या अपने उस नियम की उपेक्षा करूं? नहीं, यह नहीं हो सकता। बिना अतिथि को भोजन दिये मैं आज भी भोजन ग्रहण नहीं करूँगी। और अपने मन में यह निश्चय कर वह उस सूप को हाथ में ले कठिनाई के साथ सरकती हुई द्वार पर जा-पहुँची। अपने एक पाँव को द्वार के बाहर और दूसरे पाँव को द्वार के भीतर रखकर वह चौखट पर बैठ गई—बाकलों वाले उस सूप को अपने हाथों में लिये हुये। अतिथि की आशा में पथ की ओर देखती हुई।

और प्रतीक्षा के कुछ ही क्षणों को व्यतीत कर उसने देखा—भगवान् महावीर भिक्षा के निमित्त उसी ओर आ रहे हैं—और भगवान को देखकर चन्दनबाला पुलकित हो उठी। वह सोचने लगी—तीन दिन के उपवास के पश्चात्, पारणा करने के समय, मुझे भगवान् के आतिथ्य-सत्कार का सुअवसर प्राप्त हुआ—तो, यह मेरा बहुत ही बड़ा भाग्य है। और यह सोचकर उसका रोम-रोम हँस पड़ा।*

---

* भगवान् महावीर को चन्दनबाला भली प्रकार से जानती थी। वह उसके नाना राजा चेड़ा की बहिन महारानी त्रिशिला के पुत्र थे। और भगवान भी चन्दनबाला से परिचित थे।

तभी भगवान् ने चन्दनबाला की ओर देखा—और उन्होंने सोचा मेरे अभिग्रह की अन्य सभी बातें तो इसमें विद्यमान हैं, परन्तु इसके नेत्रों में आँसू नहीं—तो, मैं भिक्षा नहीं लूँगा। और वह लौटकर चल दिये।

और भगवान् को लौट कर जाता हुआ देख मन में अपने दुर्भाग्य की कल्पना कर धीरमना चन्दनबाला रो पड़ी। उसका हृदय टौ-टूक हो गया—और उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा फूट निकली।

मगर भगवान कुछ ही पग चले कि फिर उसकी ओर लौटे—और भगवान् को एक बार फिर अपनी ओर आता हुआ देख चन्दनबाला हँस पड़ी। उस समय उसकी आँखों से आँसू निकल रहे थे—और उसके मुख पर अपार प्रसन्नता की अनगिनत रेखायें खिंची थीं—तो भगवान का अभिग्रह पूर्ण हुआ।

और यह देखकर भगवान् ने चन्दनबाला के समीप पहुँच अपने पाँच मास और पचीस दिन के उपवास के पश्चात् पारणा के रूप की भिक्षा के निमित्त, अपने दोनों हाथ उसके सम्मुख फैला दिये। और उसने अपार प्रसन्नता का अनुभव कर गहरी श्रद्धा के साथ उड़द के उन बाकलों को भगवान् के फैले हुये हाथों पर रख दिया। दान स्वीकार कर भगवान् चले गये। मगर भगवान् को उड़द के बाकलों का दान कर चन्दनबाला कृत-कृत्य हो गई।

आकाश में खड़े हुये देवता उसकी जयजयकार करने लगे—उनकी दुन्दुभियों के मनहरण स्वर से समूचा विश्व गूँज उठा-और सोनैयों की वर्षा कर उन्होंने धनावा सेठ का घर भर-सा दिया।

फिर, कुछ ही क्षणों के उपरान्त, अनेक देवताओं को अपने साथ मे लेकर इन्द्र सती के सम्मुख प्रकट हुआ—तो, चन्दनबाला की हथकड़ी और बेड़ियाँ दिव्य आभूषणों के रूप में बदल गई। उसके शीश पर कोमल केश उग आये। काछ के स्थान मे उसके शरीर पर सुन्दर वस्त्र शोभा पाने लगे। तो, देवता उसे एक दिव्य सिंहासन पर आसीन कर उसकी स्तुति करते हुये कहने लगे—'हे सती! ससार के कल्याण और रक्षा के लिये जीवन धारण करने वाले महापुरुष के जीवन की रक्षा कर तुमने आज एक महान् कार्य सम्पन्न किया है। इस प्रकार तुमने वास्तव में उस महापुरुष के रूप में समूचे ससार के जीवन की रक्षा की है—इसलिये देवि! सारा ससार तुम्हारा सर्वदा ऋणी रहेगा। वह तुम्हारा गुणगान करने मे स्वयं को धन्य मानेगा। तो, इस तरह आज तुमने अमर पद प्राप्त कर लिया है। तुम अमर हो गई हो। तुमने सती धारिणी और महाराज दधिवाहन को आज धन्य-भाग कर दिया है। आज भगवान ने भिक्षा के निमित्त तुम्हारे सम्मुख अपने कर फैलाये हैं—तो, तुम्हारे गुणगान करने में हम असमर्थ हैं। तुमने धर्म की महत्ता को ससार मे आज प्रगट कर दिया है। हे सती! हम तुम्हारी प्रशासा कहाँ तक कर सकते हैं। तुम धन्य हो।'

इस प्रकार स्तुति करने के पश्चात् इन्द्रादि वे देवता अपने-अपने स्थान को चले गये।

और सती चन्दनबाला उस दिव्य सिंहासन पर बैठी हुई शोभा पाने लगी।

पड़ता है—तो, वह खिलखिला कर हँस पड़ी और उसने सोचा—मेरा भाग्य प्रबल है, तभी सोनैयों को किसी ने भी नहीं छुआ है—अन्यथा अब तक तो एक भी यहाँ पर बाक़ी न बचती। और उसके मन में अपार आनन्द की एक लहर-सी दौड़ गई।

मगर दूसरे ही क्षण दिव्य वस्त्र और अलङ्कारों से सुसज्जित तथा मनोरम सिंहासन पर बैठी हुई देवी-स्वरूपा चन्दनबाला को देख वह गहरे आश्चर्य में डूब-सी गई। तो, उसकी आँखें उससे कहने लगी—मूला! जो-कुछ तू देख रही है, वह सत्य है। मगर उसका शङ्कित मन उससे बोला- तेरी आँखें तुझे धोखा दे रही हैं, मूला! वह तो अब तक मर भी गई होगी—फिर, वह यहाँ कहाँ से आई—और वह अचकचा-सी गई।

मगर तभी उसने सुना—चन्दनबाला उसके समीप पहुँच उसे प्रणाम कर उससे कहने लगी—'माता जी! इस समय जो-कुछ भी यहाँ पर आप देख रही हैं—यह सब आप ही के चरणों का प्रताप है। आपकी कृपा के फल-स्वरूप ही भगवान् महावीर ने मेरे हाथ से भिक्षा ग्रहण की—और इन्द्रादि देव यहाँ पर पधारे। मैं कृत्य-कृत्य होगई—मगर आपकी ही महती कृपा के सहारे।

और चन्दनबाला की—इन बातों को सुनकर मूला के मन का भ्रम दूर हो गया। तो, वह सोचती हुई ठगी-सी रह गई। उस समय वह यही विचार कर रही थी—मैंने इसको कैसे-कैसे दुख दिये, हरएक तरह के बुरे बोल बोले—फिर, तलघर में बन्द कर इसे मार डालने का प्रयत्न किया, मगर यह अभी

ने उसकी स्तुति की है। और अब वह सती दिव्य सिंहासन पर बैठी हुई अपूर्व शोभा से युक्त दीख पड़ रही है। मैं तो उसके दर्शन कर अभी-अभी धनावा सेठ के घर से आ रहा हूँ।'

और वह दूसरा कोई उस समाचार को सुन चन्दनबाला के दर्शनों के निमित्त धनावा सेठ के घर की ओर चला—और मार्ग में उसने सभी से इस बात को कहा—और उन सभी ने अन्य सभी से—और यह समाचार विद्युत वेग से सम्पूर्ण नगरी में फैल गया।

मगर मूला से उसके नौकर ने इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा—'स्वामिनी! आज तो आपके घर सोनैयों की वर्षा हुई है।' और नौकर की इस बात को सुनकर मूला, मन में अपार आनन्द का अनुभव कर उछल-सी पड़ी। फिर, वह यह चिन्ता करती हुई कि कहीं कोई अन्य उसकी सोनैयों को बटोर कर अपने यहाँ न ले जाय—पितृ-गृह से अपने घर की ओर भागी—उत्सुकता के कारण मार्ग में अटपटी-सी चाल चलती हुई जब वह घर आ पहुँची—तो अपने घर के द्वार पर लोगों की अपार भीड़ देखकर वह काँप उठी। उसने सोचा—अब तक तो न जाने कितनी सोनैयाँ ये लोग बटोर कर अपने-अपने घर जमा चुके होंगे—फिर, अब बाकी ही कितनी बची होंगी। और यह सोचकर वह क्रोध और दुःख से व्याकुल हुई, लोगों की भीड़ को चीर कर घर के भीतर घुसी। और घर के बड़े चौक में पहुँचकर उसने देखा—वहाँ पर भी बहुत व्यक्ति जमा हैं, मगर सोनैयों के डर से कोई भी हाथ नहीं लगा रहा है—और वह ज्यों का त्यों सुरक्षित वाम

यह कहकर कुपित हुआ सेठ बहुत ही कठोर दृष्टि से मूला की ओर एकटक देखने लगा।

मगर तभी सेठ को अभिवादन कर चन्दनबाला उससे बोली—'पिता जी! आप माता पर व्यर्थ ही क्रोध कर रहे हैं। उन्होंने कोई भी दोष नहीं किया है। जिसे आप भ्रमवश उनका दोष मान बैठे हैं, वास्तव मे, वह उनका उपकार है—बहुत बड़ा उपकार, जिसके कारण आज सब-कुछ धर्ममय दीख-पड़ रहा है। तो, आप क्रोध का त्याग ' —।'

मगर बीच ही मे क्रोध के वशीभूत हुआ सेठ उससे कहने लगा—'पुत्री! यह तू क्या कह रही है? जिस दुष्टा ने तुझे मार-डालने की इच्छा से तेरे हाथ-पैरों को हथकड़ी और बेडियों मे जकड़ कर तुझे तलघर मे पटक दिया—क्या ऐसी अपवित्र नारी किसी के साथ कोई उपकार कर सकती है। जो, तुझ-जैसी सती के साथ भी दुर्व्यवहार करने से लाज नहीं आई—वह भला क्या कोई सामान्य दुष्टा है, जिसको तू अपने अच्छे स्वभाव के कारण क्षमा कर देना चाहती है। नहीं—पुत्री। यह अपराधिनी है, इसे दण्ड मिलने ही दो। इसने घर को कलङ्कित कर दिया है, मैं इसका मुख भी नहीं देखना चाहता। इसे मेरी आँखों के सामने से हटजाने दो। जहाँ इसके मन में आवे—इसे वहाँ जाने दो।'

तो, चन्दनबाला कहने लगी—'पिताजी! जो कुछ भी परिवर्त्तन आप यहाँ पर देख रहे हैं, यह सब माताजी के ही कारण है। भगवान महावीर और इन्द्रादि देवों के यहाँ पर

भी मेरा ऐसा आदर कर रही है। मेरा ही उपकार मान रही है। और यह सोचकर वह लज्जा के कारण स्वयं में ही सिमट-सी गई।

मगर उसकी इस सकुचाहट को लक्ष्य कर चन्दनबाला उससे फिर कहने लगी—"माता जी! उठिये! मेरे साथ इस सिंहासन पर बैठकर मेरे मन की इच्छा को पूर्ण कीजिये।" और इस प्रकार कहने के उपरान्त चन्दनबाला ने उसका हाथ पकड़ उसे उठा लिया—फिर उसे उस दिव्य सिंहासन पर आसीन कर वह स्वयं भी उसके पास में बैठ गई।

तभी मार्ग में इस वृत्तान्त को सुनकर प्रमुदित मन हुआ सेठ भी वहाँ पर आ-पहुँचा—और अपनी पत्नि मूला को पुत्री के साथ ही सिंहासन पर बैठी हुई देख वह क्रोध के कारण उद्विग्न हो उठा। पिता के आदर के निमित्त चन्दनबाला सिंहासन से उतर पड़ी और पति को क्रोधित हुआ देख थर-थर काँपती हुई मूला भी! और तभी सेठ उससे कहने लगा—"ओ पापिनी! तू लज्जा के कारण डूब कर भी नहीं मर जाती। क्या तू इस सती के पास में बैठने योग्य है? पुत्री के साथ में बैठने और सोनैयों बटोरने के लिये तो तू यहाँ आ गई मगर अब तक तू कहाँ थी। दुष्टा! चली जा यहाँ से—मेरा मुँह देखने पर भी पाप लगता है। तू इस सती के प्राणों का हरण करने वाली है—तूने पुत्री को मार डालने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी थी—वह तो भगवान की कृपा ही थी—कि पुत्री बच गई। अब मैं तेरा मुख भी नहीं देखना चाहता। तेरी जहाँ इच्छा हो अब तू वहाँ चली जा। और

यह कहकर कुपित हुआ सेठ बहुत ही कठोर दृष्टि से मूला की ओर एकटक देखने लगा।

मगर तभी सेठ को अभिवादन कर चन्दनबाला उससे बोली—'पिता जी ! आप माता पर व्यर्थ ही क्रोध कर रहे हैं। उन्होंने कोई भी दोष नहीं किया है। जिसे आप भ्रमवश उनका दोष मान बैठे हैं, वास्तव में, वह उनका उपकार है—बहुत बड़ा उपकार, जिसके कारण आज सब-कुछ धर्ममय दीख-पड़ रहा है। तो, आप क्रोध का त्याग' ' '।'

मगर बीच ही में क्रोध के वशीभूत हुआ सेठ उससे कहने लगा—'पुत्री ! यह तू क्या कह रही है ? जिस दुष्टा ने तुझे मार-डालने की इच्छा से तेरे हाथ-पैरों को हथकड़ी और बेड़ियों मे जकड़ कर तुझे तलघर में पटक दिया—क्या ऐसी अपवित्र नारी किसी के साथ कोई उपकार कर सकती है। जो, तुझ-जैसी सती के साथ भी दुर्व्यवहार करने से लाज नहीं आई—वह भला क्या कोई सामान्य दुष्टा है, जिसको तू अपने अच्छे स्वभाव के कारण क्षमा कर देना चाहती है। नहीं—पुत्री ! यह अपराधिनी है, इसे दण्ड मिलने ही दो। इसने घर को कलङ्कित कर दिया है, मैं इसका मुख भी नहीं देखना चाहता। इसे मेरी आँखों के सामने से हटजाने दो। जहाँ इसके मन मे आये—इसे वहाँ जाने दो।'

तो, चन्दनबाला कहने लगी—'पिताजी ! जो कुछ भी परिवर्त्तन आप यहाँ पर देख रहे हैं, यह सब माताजी के ही कारण है। भगवान महावीर और इन्द्रादि देवों के यहाँ पर

पधारने तथा सोनैयों की वृष्टि के सम्बन्ध में तो आप सुन ही चुके होंगे—और इससे सम्बन्धित यह बात भी आपने अवश्य ही सुनी होगी—कि, भगवान् ने पाँच मास और पचीस दिन के बाद मुझमें अपने अभिग्रह के सभी अवयव विद्यमान होने के कारण ही पारणा के अन्न की भिक्षा मुझी से ग्रहण की—और तभी यह परिवर्तन आपको यहाँ पर दृष्टिगोचर हो रहा है—तो क्या इसका कारण माताजी नहीं है ? आप मेरी बात पर विश्वास कीजिये इन्द्रादि देवों ने भगवान् के अभिग्रह की बात मुझे इसी प्रकार बतलाई थी—उन्होंने कहा था—भगवान् की यह प्रतिज्ञा थी—कि जो राजकुमारी हो, फिर, अविवाहित सदाचार-पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाली, जिसका शीश केश-रहित हो वस्त्रों के नाम पर जो केवल काछ ही धारण किये हुये हो जिसके हाथ और पैरों में हथकड़ी और बेड़ियाँ पड़ी हों तीन दिन से जो उपवास किये हुये हो जिसका एक पाँव चौखट के बाहर और एक भीतर हो जो अपने हाथ में सूप लिये हुये हो सूप में उड़द के बाकले हों जो राम वेल की इच्छा को अपने मन में बसाये अतिथि के लिये पथ निहार रही हो और जिसके नत्रों में जल भरा हो मगर जिसका मुख प्रसन्न हो ऐसी किसी कन्या के हाथ से ही मैं पारणा की भिक्षा ग्रहण करूँगा—अन्यथा प्राण रहें या न रहें, मैं भोजन नहीं करूँगा। और पिताजी ! भगवान् की यह प्रतिज्ञा माताजी की कृपा से ही पूर्ण हुई। मगर वह मुझ पर इतनी कृपा न करतीं—तो, भगवान् का अभिग्रह मेरे द्वारा किस प्रकार पूर्ण हो पाता—और उन्हें भिक्षा देने का यह सौभाग्य मुझे क्यों कर प्राप्त हो सकता

था। तो, आप अपने क्रोध को त्याग दीजिये—और माताजी का अपमान न कीजिये।'

और पवित्र-हृदया अपनी पुत्री की इस वात को सुनकर सेठ का क्रोध उससे वहुत दूर जाकर खड़ा हो गया। निर्मल हँसी उसके मुख पर खिल उठी—तो, डर से थरथर काँपता हुआ मूला का मन खिलखिलाकर हँस पड़ा—और चन्दनवाला माता और पिता को साथ मे लेकर सिंहासन पर वैठ अपूर्व शोभा से युक्त दीख-पड़ने लगी।

सती चन्दनवाला के दर्शनों के निमित्त स्त्री पुरुप, वाल-वच्चे, वूढे और जवान सभी धनावा सेठ के घर आ रहे थे—वहाँ पर वे सती के दर्शन कर स्वयँ को धन्यभाग समझते और कुछ देर ठहर अपने-अपने घरों को वापिस चले जाते। अपने-अपने घरों पर लौटकर वे इस वात को सभी से कहते—और मन मे खुश होते। वे सोचते, यह उनका कर्त्तव्य है कि वे इस सत्य को सभी पर प्रगट करें—तो, सभी सती के शुभ-दर्शनों का लाभ प्राप्त कर सकें।

और ऐसे ही अपने 'एक कर्त्तव्य-परायण पड़ौसी के मुख से इस वात को रथी-पत्नि ने भी सुना—और उसका मन आनन्द से भर उठा। पुत्री के प्रति अपने द्वेप-भाव को तो वह उसी दिन अपनी इच्छा से ही भुला चुकी थी—उसी दिन, जिस दिन उसने उसे वाजार मे विकवाने का निर्णय किया था। उस दिन—उस समय, जव वीस लाख सोनैयाँ लेकर रथी उसके सम्मुख पहुँचा था—और पुत्री के वदले में उस धन को देखकर समूचा घर रो-पड़ा था—फिर, पास-पड़ौसी

भी। तो यह दशा देखकर रथी-पत्नि का सहसा ही आत्म मग्न हो गया था—और उस दिन अपने कृत्य पर बहुत ही ग्लानि उस हुई थी। मगर आज इस समाचार को सुनकर वह बहुत खुश थी। और परमानन्द का अनुभव कर उसने रथी से कहा—'स्वामी! मैंने सुना है, मेरी सती पुत्री आज भगवान महावीर को दान देने के कारण देवताओं के द्वारा पूजी गई है। तो उसकी महिमा आज समूची कौशाम्बी में व्याप्त हो गई है। नाथ! जिस दिन से वह यहाँ से गई है, उसी दिन से वह मेरी आराध्य-देवी बनी हुई है—तो मेरी यह बड़ी भारी अभिलाषा है—कि मैं देवी-स्वरूपा अपनी पुत्री, अपनी आराध्य देवी के दर्शन करूँ।

और अपनी पत्नि की इस पवित्र अभिलाषा की बात को सुन रथी का मन-कमल खिल उठा। वह आत्मा में अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करता हुआ पत्नि को साथ में लेकर सती चन्दनबाला के दर्शनों के निमित्त उसी समय धनावा सेठ के घर की ओर चला। और रथी-पत्नि को उस समय ऐसा जान पड़ रहा था—मानो आज वह सती के दर्शन कर अपने सभी पापों को धो डालेगी। अपने मन में वह सोच रही थी—सती के चरणों का पकड़ वह क्षमा माँगेगी—विनती कर वह देवी को मना लेगी—और वह कृत्य-कृत्य हो जायेगी।

और जब वह अपने पति के साथ धनावा सेठ के घर जा-पहुँची—तो पुत्री के दर्शनों के निमित्त उमड़ी हुई उस अपार भीड़ को देखकर वह ठगी-सी रह गई। तभी चन्दनबाला की दृष्टि पिता रथी और माता रथी पत्नि पर

पड़ी—और वह सिंहासन से उतर 'माता' 'माता' कहती हुई रथी-पत्नि की ओर चली—और रथी-पत्नि चन्दनबाला की की ओर। और तभी उसने कहा—'पुत्री! मुझे क्षमा करना।' फिर, समीप होने पर वे एक दूसरी के चरणों पर गिर पड़ीं। और रथी-पत्नि अभी भी उससे यही कह रही थी—'पुत्री! मुझे क्षमा करना। मैंने तुम जैसी सती को अपार कष्ट दिये थे, पुत्री! मुझे क्षमा करना।' तो, आत्म-विभोर हुई रथी-पत्नि को उठाकर चन्दनबाला ने अपने हृदय से लगा लिया—फिर, वह उससे कहने लगी—'माता! यह आप क्या कह रही हैं। आपके मुझपर अनेक उपकार हैं। यह मान जो मुझे मिला है, आपकी कृपा के कारण ही! मुझे इस योग्य आपने ही बनाया है। आपने मुझे घर से निकालकर मुझे प्रगति के पथ पर आगे बढ़ा दिया था—माता! आपने कृपाकर मुझे उचित स्थान पर पहुँचा दिया था—माता! तो, आप ऐसा न कहिये।'

और रथी-पत्नि को इस प्रकार सान्त्वना देने के पश्चात् वह रथी को प्रणाम कर उससे बोली—'पिताजी! आपकी दया और आपके अनुग्रह ने ही मुझे यह गौरव प्रदान किया है—तो, मैं आपकी चिर-ऋणी रहूँगी। भगवान् महावीर के शुभ-दर्शन कर-सकने का सौभाग्य मुझे आपकी कृपा के फल-स्वरूप ही प्राप्त हुआ है। मैं आपकी आभारी हूँ, पिताजी!'

मगर पुत्री की इस बात को सुनकर, नेत्रों से जल की अविरल धारा बहाता हुआ, रथी उससे कहने लगा—'पुत्री! तू मनुष्य की दुर्वृत्ति का शमन कर उसे सत्य के पथ पर आगे बढ़ाने वाली है। तो, तू देवी है, पुत्री! तूने अब तक अनेकों

का उद्धार किया है। इन्हें मोक्ष का मार्ग दिखाया है। तेरी पवित्र आत्मा सभी को शान्ति-लाभ कराने वाली है। तेरा जीवन धन्य है। तू साक्षात् देवी है, पुत्री!"

और सती चन्दनबाला की इस प्रकार प्रशंसा कर वह मौन हो गया। फिर, वह धनावा सेठ से गले-मिलकर मिला—और मूला रखी-पत्नि से।

तभी वह वेश्या भी वहाँ पर आ-पहुँची—और यह कहती हुई—'हे सती! मुझ पापिनी को क्षमा करना।' वह सती चन्दनबाला के चरणों पर गिर पड़ी। मगर चन्दनबाला ने उसे भी उठाकर अपने हृदय से लगाया—और बहुत प्रकार से सम्मान के उपरान्त उसके मन के क्लेश को दूर कर दिया। इस समय इस दृश्य को देखते हुये वहाँ पर सभी बहुत खुश थे—और सती चन्दनबाला की परस्पर प्रशंसा करते हुये थका नहीं रहे थे।

फिर कुछ ही समय के उपरान्त,

जब सभी का आदर कर चन्दनबाला ने सभी को यथा-स्थान बिठा दिया—और वह स्वयं उस दिव्य सिंहासन पर बैठकर शोभा पाने लगी—तो कौशाम्बी के महाराज सम्राट् के सामन्त उसके सम्मुख पहुँचे उचित रीति से उसका सत्कार कर निवेदन करते हुये कहने लगे—'हे देवी! महाराज और महारानी ने पालकी सहित हमें आपकी सेवा में भेजा है—और आपसे यह प्रार्थना की है—कि आप राजमहल में पधारें तो आपकी बड़ी कृपा हो।' और इस प्रकार अपने

महाराज और महारानी की इच्छा को सती चन्दनवाला के सम्मुख प्रगट कर, नत-मस्तक हुये, वे सामन्त मौन हो गये।

तो, उत्तर में चन्दनवाला उनसे कहने लगी—'सामन्तो! मैं मौसाजी और मौसीजी के इस निमन्त्रण को प्राप्त कर कृतार्थ हुई। उनसे मेरा प्रणाम कहना। और मेरी ओर से यह भी निवेदन करना—कि उन्होंने मुझे याद किया—उन्होंने मुझ पर कृपा की—मैं उनका आभार मानती हूँ, मगर स्वयँ को इस योग्य नहीं समझती—कि मैं राजमहल मे जा सकूँ। तो, इस योग्य न होने के कारण उनकी आज्ञा को स्वीकार न करने के लिये मैं क्षमा चाहती हूँ।'

और महाराज सन्तानिक के सामन्त, देवी के इस कथन को शिरोधार्य कर, वापिस लौट गये। सती चन्दनवाला के दर्शन कर वे बहुत खुश थे—तो, राजमहल के मार्ग मे वे सोचते चले—आज का दिन हमारे जीवन का सबसे सुन्दर दिन है जो हमे ऐसा पवित्र कार्य करने की आज्ञा मिली—कि हमने केवल देवी के दर्शन ही न किये, बल्कि सती से बातें करने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सका—और हमारा मनुष्य-जन्म सार्थक हो गया। हमारा जीवन धन्य हो गया।

और जब वे यही सब कुछ सोचते-विचारते राजमहल में जा-पहुँचे—तो, उनके मुख से चन्दनवाला के उत्तर को सुनकर महाराज सन्तानिक कुछ सोच मे पड गये। वे किंकर्त्तव्य-विमूढ हुये ठगे-से रह गये—तो, उनके पास मे बैठी हुई महारानी मृगावती उनसे कहने लगी—'स्वामी! मैं तो जानती थी—कि वह देवी इस प्रकार बुलाये जाने पर हमारे यहाँ नहीं

आवेगी। यह सत्य है—कि ऐसी पवित्र आत्माओं को लोभ और मोह नहीं सताया करते। आत्म-कल्याण और जन-कल्याण के पथ के पथिक अपने ही पथ पर निरन्तर अग्रसर हुआ करते हैं—वे संसार के किसी भी आकर्षण में नहीं फँसा करते। वे दुनियाँ के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हुआ करते हैं। तो अगर उस देवी को आप यहाँ पर लाना चाहते हैं—तो राजा के इस झूँठे अभिमान का त्याग कर, आप स्वयं ही मुझे अपने साथ में लेकर वहाँ पर चलिये। तो सम्भव है—कि वह देवी हमारे यहाँ पधारे और उस सती के चरणों की रज से हमारा यह निवास-स्थान पवित्र हो जावे।

और महारानी के इन शब्दों को सुनकर महाराज को उस समय ऐसा ज्ञात पड़ा—जैसे पथ से भटके हुये उनको अब पथ मिल गया है। और उन्होंने बुद्धिमती महारानी की बात को स्वीकार कर लिया।

और दूसरे ही क्षण वे वह महारानी को साथ में लेकर धनावा सेठ के घर की ओर चले—तो, वह सोच रहे थे—वास्तव में मैं बहुत ही बड़ा पातकी हूँ। अब तक झूँठे लोभ में पड़कर मैंने न जाने कितने निर्दोष व्यक्तियों को मृत्यु के मुख में झोंक दिया होगा। कितनी निर्दोष देवियों को विधवा बना दिया होगा—और कितने बच्चों को अनाथ! केवल इसलिये—कि मेरे राज्य का विस्तार हो—तो मेरे सांसारिक सुखों की वृद्धि! फिर अपनी मनोकामना को पूर्ण करने के लिए मैंने झूँठा बहाना बनाकर चम्पापुरी के राज्य पर चढ़ाई

की, चम्पापुरी के परम् धार्मिक महाराज दधिवाहन ने मुझे समझाना चाहा—तो, मैंने उनको कायर समझ उनकी उपेक्षा करदी। और उनकी सुखी प्रजा को मैंने दुख के अथाह सागर मे डुबो दिया। चम्पापुरी मे रक्त की नदियां वह चलीं—तो, मैं गोरव का अनुभव कर खूब हंसा। हजारों-लाखों को खून के आँसू रुलाकर मैं खूब हँसा ।

और अपने पाप को याद कर महाराज कॉप से उठे। उन्होंने सारथि को रथ रोक लेने की आज्ञा दी—और रथ रुक गया—तो, वह रथ मे से उतर पडे—और उनकी आज्ञा पाकर महारानी मृगावती भी। और महाराज धनावा सेठ के घर की ओर पैदल चले—तो, महारानी भी। और महाराज के इस भाव को लक्ष्य कर मृगावती बहुत खुश थी।

फिर, कुछ ही समय के उपरान्त, जब महाराज चन्दनबाला के सम्मुख जा-पहुँचे—तो, पत्नि-सहित वह उसके चरणों पर गिर पडे। फिर, हाथ जोड़कर कहने लगे—'हे देवि! मैंने अब तक सात्विक और धर्म-सगत बातों की अवहेलना कर अनेक पाप-कर्म किये है। तुम-जैसी सती-साध्वी ने भी मेरे ही कारण इतने दुख भोगे हैं—तो, मैं महा पातकी हूँ—देवि! मुझे क्षमा करो। मैं इस योग्य तो नहीं हूँ कि तुम-जैसी सती को मुँह दिखलाऊं, मगर इस आशा के भरोसे कि तुम देवि हो—तो, साक्षात् क्षमा ही। और मुझ पापी को क्षमा कर दोगी। मैं तुम्हारे सम्मुख उपस्थित होने की धृष्टता कर सका हूँ। और अब तुमसे प्रार्थना करता हूँ—मुझे क्षमा करो, देवि! और राजमहल मे पधार कर मुझे कृतार्थ भी। फिर, मुझे

विश्वास है, पापियों के पाप का शमन करने वाली देवी मेरी प्रार्थना को स्वीकार करेगी।'

और दयावती और कल्याणी चन्दनबाला महाराज और महारानी का पिता-माता के समान आदर कर महाराज से कहने लगी—'आप मेरे पूजनीय हैं। मैं आपका अपने पिता के समान आदर करती हूँ—तो आप मेरे लिये आदरणीय होकर मेरे पैरों को क्यों छू रहे हैं—मौसा जी। आप उठिये—और मुझ पर यह पाप-बोझ न डालिये मौसा जी!'

और एक क्षण के मौन के पश्चात् वह फिर कहने लगी—'मगर मौसा जी! मैं कौशाम्बी के राजमहल में किस प्रकार जा सकती हूँ। मैं उस स्थान के योग्य ही नहीं हूँ। राजमहल के और मेरे विचारों में अब आकाश और पाताल का अन्तर है—तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि मैं वहाँ पर जा सकूँ। वैसे मुझे उस स्थान से कोई भी वैर नहीं है—और न यह ही इच्छा थी—कि जब आप ही मुझे लिवाने के लिये वहाँ पर आयें—तभी मैं वहाँ पर जाऊँ—मगर वास्तव में बात यही है—कि मैं वहाँ पर जाने के अयोग्य हूँ। यही बात मैंने आपके सामन्तों से भी कही थी—और अब आपके सम्मुख भी आपसे यही निवेदन कर रही हूँ।'

जिस स्थान पर केवल राजनीति जिसे दूसरे शब्दों में प्रपञ्चना भी कहा जा सकता है, का ही बोलबाला हो—और उसकी आड़ लेकर निरपराध व्यक्तियों के रक्त से मनमाना खेल खेला जाता हो—मैं उस स्थान पर किस प्रयोजन की सिद्धि के निमित्त जाने का साहस कर सकती हूँ। वहाँ प्रजा

की खुशी राजा की इच्छा पर बलि दी जाती हो, फिर जिस स्थान पर बैठकर, प्रजा के रक्त को प्रसन्नता के साथ पिया जाता हो—मैं उस स्थान पर जाने के योग्य ही कहाँ हूँ, मौसा जी ! तो, मुझे क्षमा कीजिये ।'

'जिस राजमहल की इच्छा के कारण प्रजा को लूटा और खसोटा जाता हो, उसको बर्बर सिपाहियों के द्वारा गाजर-मूली के समान काट दिया दिया जाता हो, देवियों के सतीत्व का बलात् हरण किया जाता हो—मैं उस राजमहल मे क्या करने के लिये जाऊँ, मौसा जी ! जिस राजमहल की दृष्टि में अन्य राज्यों के राजमहलों की नारियों के सतीत्व का कोई मूल्य नहीं है, और जिससे प्रेरणा प्राप्त कर जिसका एक रथी तक यह साहस कर सका—कि चम्पापुरी मे लूट के समय वह अपनी काम-पिपासा को शान्त करने के लिये मुझे और मेरी माता को वन मे ले गया—और जिससे अपनी रक्षा करने के लिये धर्म-शीला मेरी मा को अपने प्राणों का त्याग कर देना पड़ा, तो, उस राजमहल में जाकर मैं करूँगी भी—तो, क्या ?'

और अन्त मे उसने कहा—'जीवन-भर मेरी मा ने जिस व्रत का पालन किया—फिर, जिसकी रक्षा के लिये स्वयं को बलिदान भी कर दिया—और स्वयं को निछावर कर मगर एक व्यक्ति के जीवन को सुधार दिया—और आपका वही रथी, जो, पहिले मेरा भक्षक बना हुआ था, मा के इस त्याग को देखकर मेरा रक्षक बन गया—तो, मैं तो मा के उसी पवित्र धर्म मे विश्वास करती हूँ, जो, सभी का और अपना कल्याण करने वाला है। फिर, आज भगवान् महावीर के

दर्शनों का जो सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, वह मा की शिक्षा के फल-स्वरूप ही—तो, जब मेरी अच्छी मा ने मुझे सत्य पथ पर आगे बढ़ा दिया है, और उस कल्याणकारी पथ की अपनी कठिनाइयों को सहन करने की शक्ति भी मुझको प्रदान की है—तो मौसा जी! कौशाम्बी के राजमहल में मेरे लिये क्या आकर्षण हो सकता है? मैं वहाँ पर क्यों और किस लिये जाऊँ? जब चम्पापुरी की प्रजा घोर संकट में हो—तो, चम्पापुरी की राजकुमारी महलों में रहकर सुखोपभोग करे, यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है। तो मुझे क्षमा कीजिये मौसा जी!"

और महाराज शतानिक से इस प्रकार कहने के उपरान्त चन्दनबाला मौन हो गई लेकिन अपनी बहिन धारिणी की मृत्यु की बात सुनकर फूट-फूट कर रो रही मृगावती को सान्त्वना देती हुई वह कहने लगी—"मौसी जी! माता की मृत्यु के कारण आप क्षणमात्र भी दुख न कीजिये। संसार में जो उत्पन्न हुआ है, वह मृत्यु को भी निश्चय ही प्राप्त होगा। मगर माता जी-सी पवित्र मृत्यु बहुत ही कम मनुष्यों को मिलती है। धर्म जिस प्रकार की मृत्यु को पण्डित-मरण कह कर उसका मान करता है। मा ने उसी सम्मानित मृत्यु का आलिङ्गन कर अपने प्राणों को त्यागा था—तो उनकी मृत्यु पर आप किसी भी प्रकार के दुख का अनुभव न कीजिये। मा ने अपने सतीत्व की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों का बलिदान कर संसार में सती-धर्म की प्रतिष्ठा को बढ़ाया है—तो आप उनकी मृत्यु पर शोक क्यों कर रही हैं?"

और कुछ रुककर वह फिर कहने लगी—'मौसी जी ! माता की मृत्यु पर दुख प्रगट न कर यदि आप चम्पापुरी की पीड़ित प्रजा के लिये अपने मन मे कष्ट का अनुभव करें—तो, आपका रोना फलदायक भी हो । हजारों-लाखों का कल्याण हो—तो, ससार मे धर्म की प्रतिष्ठा एक वार फिर स्थापित हो । राजा का धर्म है, वह प्रजा की रक्षा करे—न कि उसका विनाश ! मगर जब राजा ही अपने व्यक्तिगत् सुख के लिये प्रजा का भक्षक बन जाये—तो, फिर प्रजा की रक्षा कौन करेगा । उसका रक्षक कौन होगा ?'

और चन्दनवाला मौन होगई । रानी मृगावती के आँसू सूख गये । तो, मन में गहरे विषाद का अनुभव कर महाराज कहने लगे—हे सती ! हे पुत्री ! तुम जो-कुछ भी कह रही हो, वह अक्षरश सत्य है । वास्तव मे, ससार का ऐसा कोई भी पाप-कर्म नहीं है, जो मैंने न किया हो । मित्र-द्रोह, नर-हत्या आदि मैंने सभी पाप प्रसन्न हो-होकर किये हैं । और सभी पाप-कर्म करते समय मैंने सर्वदा ही असत्य का सहारा लिया है—और वह भी केवल इसलिये कि ससार के अस्थायी सुखों को ही मैं सब-कुछ मानता रहा । आत्मा के सुख की ओर मैंने ध्यान ही नहीं दिया । मैं अब तक यही समझता रहा—कि राजाओं का जन्म इस ससार में केवल इसीलिये होता है कि वे ससार के भोगों को मनमाने रूप मे भोगें और उनके इस सुख में वाधक बनने वाले उन सभी को वे मृत्यु के मुख में झोंक दें । और यही उनकी वीरता है । तुम्हारे पिता आदरणीय महाराज दधिवाहन ने चम्पापुरी पर चढ़ाई के

समय मुझे मेरे पापों को भली प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया; परन्तु मैं न समझा—और मैंने उस समय उन्हें अपमान कहकर उनका उपहास किया—और पुत्री ! मुझे दुःख है कि मेरी इसी मूर्खता के कारण तुम सभी को अब तक अनेकों कष्ट सहने पड़े—और धर्मशीला धारिणी को तो अपने प्राणों तक से हाथ धोने पड़े। तो मैं महापातकी हूँ पुत्री ! महापापी !

और कुछ सोचकर वह कहने लगा—'मगर पुत्री ! मैंने अपने सैनिकों को इस प्रकार का तो आदेश नहीं दिया था—कि वे स्त्रियों के सतीत्व का बलात् हरण करें—तो, मुझे यह बात आज ही ज्ञात हुई। इस सत्य से मैं आज ही अवगत हुआ कि मेरे आदेशों का मेरे ही सैनिकों के द्वारा किस प्रकार दुरुपयोग किया गया। मगर यह भी मेरा ही दोष है। मनमाने राजा के सैनिकों ने अगर अपनी मनमानी की तो वह दोष भी मेरा ही है।

'मगर अब मेरे नेत्र खुल गये हैं। मेरे हृदय में ज्ञान का प्रकाश तुमने जगा दिया है, पुत्री ! तो अब इतनी कृपा और करो कि मुझे, मुझ पापी को उस मार्ग पर और लाकर खड़ा करदो जिस सत्य पथ पर चलकर मैं अपने पापों से मुक्त हो जाऊँ। तुम पापी का उद्धार करने वाली देवी हो—तो मेरा उद्धार करो पुत्री ! मेरा उद्धार करो।

और सती चन्दनबाला के सम्मुख अपने पाप को स्वीकार कर महाराज ने अपने शीश को झुका लिया—तो चन्दनबाला कहने लगी—'हे पिता ! सबके सम्मुख अपने पाप को

स्वीकार कर लेने का अर्थ है—सत्य को अपने हृदय मे धारण करना। तो, पथ तो आपको मिल गया। मगर अपने उस पथ पर अग्रसर होने से पूर्व, अगर आप अपने पापों का प्रायश्चित कर लेना आवश्यक समझते हैं—तो यह आपका विचार सुन्दर है। यह धर्म को बढाने वाला है। तो, इसके लिये उचित यही है—कि दूसरों की क्षति की आप पूर्त्ति करदें। जिसका जो-कुछ भी आपके पास है, आप उसे उसको लौटा दें। और फिर, आप यह प्रतिज्ञा करें—कि भविष्य मे इस प्रकार का कोई भी कार्य आप नहीं करेंगे। तो, सत्य के उस पथ पर आप सरलता के साथ आगे वढ सकेंगे। तव, आपके मन की पवित्रता आपकी रक्षा करेगी—और अपनी मुक्ति के पथ पर आप निरन्तर आगे वढेंगे—अवाध गति से!'

और चन्दनवाला के इन शब्दों को सुनकर महाराज का मुख खिल उठा। तो, वह कहने लगे—'पुत्री! तुमने मेरी रक्षा की है। मैं तुम्हारी इस कृपा का जन्म भर आभारी रहूँगा। तुमसे सत्य का प्रकाश प्राप्त कर आज मैं प्रतिज्ञा कर तुमसे कहता हूँ—कि भविष्य मे मैं स्वयं को अपनी प्रजा का एक तुच्छ सेवक समझूँगा—और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये उसके स्वत्व का हरण कभी स्वप्न मे भी नहीं करूँगा। फिर, अव तक जिनका जो-कुछ भी मैंने छीना है, उसे उनको लौटा दूंगा। चम्पापुरी के प्रिय महाराज दधिवाहन की मैं आज ही और अभी खोज कराऊँगा। मैं उनके चरणों पर गिरकर अपने कुकर्म की उनसे क्षमा माँगूँगा—और ससम्मान उनका राज्य उनको लौटा दूंगा। और अव मैं लोक-

कल्याण और आत्म-कल्याण के पथ पर आगे बढ़ूँगा।' और अपने कथन को इस प्रकार समाप्त कर महाराज ने सती चन्दनबाला के दर्शनों के निमित्त वहाँ पर इकट्ठे हुये उस जन-समुदाय की ओर देखा—फिर, चन्दनबाला की ओर।

और चन्दनबाला ने उनसे कहा—'हे पिता! आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो। आपका वचन-बद्ध होना कल्याणकारी है।'

तो 'सती चन्दनबाला' और 'महाराज सत्तानिक' की जयजयकार की ध्वनि से धनावा सेठ का घर गूँज उठा।

और उस ध्वनि के बीच महाराज ने एक बार फिर प्रार्थना की—'हे देवि! हे पुत्री! अब मेरी प्रार्थना को स्वीकार करो—और मेरे साथ चलकर मेरे ही समान कौशाम्बी के राजमहल को भी अपने चरणों की रज से पवित्र करदो।'

तो धनावा सेठ महाराज के सम्मुख पहुँच उनकी जय जयकार कर बहुत ही विनीत स्वर में उनसे कहने लगा—'हे महाराज! आप मेरे स्वामी हैं और मैं आपका एक तुच्छ सेवक। तो अपने इस सेवक पर जब स्वामी ने इतनी कृपा की है—कि प्रभु ने उसके यहाँ पधार कर उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया है—तो स्वामी अपने सेवक पर इतनी दया और करें—कि सती का पारणा इसी स्थान पर अपने कर-कमलों के द्वारा पूर्ण करें। सती राजमहल में जायँ इस बात के लिये तो मैं इन्कार कर ही कैसे सकता हूँ—मगर तीन दिन के उपवास के पश्चात् यहाँ से यह भूखी जायँगी—तो स्वामी! मेरे हृदय का अपार

कष्ट होगा।' और महाराज से इस प्रकार निवेदन कर उनके सम्मुख वह झुक सा गया।

तो, चन्दनवाला उससे कहने लगी– 'पिताजी! मैं आपके स्थान से भूखी नहीं जाऊँगी—फिर, मौसाजी और मौसीजी को साथ मे लिये विना अकेली भोजन भी नहीं कर सकती। तो, आप शीघ्र ही भोजन का प्रवन्ध कीजिये। वे दोनों और यहाँ पर उपस्थित सभी मेरे ही साथ भोजन करेंगे।'

और चन्दनवाला के इन शब्दों को सुनकर धनावा सेठ का आनन्द हँस पडा– तो, वह असीम उत्साह को अपने हृदय मे धारण कर भोजन की व्यवस्था मे लगा। और वह वहुत खुश था।

और कुछ ही समय के उपरान्त,

महाराज सन्तानिक, महारानी मृगावती, धर्म पिता रथी, रथी-पत्नि, वेश्या तथा सभी उपस्थित नगर-निवासियों के साथ धनावा सेठ के घर पर भोजन कर चन्दनवाला ने अपने इस धर्मशील और कृपालु पिता को वहुत सुख पहुँचाया। और अन्त मे, जव वह कौशाम्वी के राजमहल को जाने लगी—तो, वह धनावा सेठ और मूला से वोली—'हे पिता! हे माता! मैंने आपके पास रहते हुये वहुत ही सन्तोष के साथ अपने जीवन को व्यतीत किया। यहाँ पर निवास करते हुये मैंने अपने सभी धर्म-कार्य पूर्ण स्वतन्त्रता और आनन्द-पूर्वक किये– फिर, भगवान् महावीर के शुभ-दर्शनों का लाभ भी मुझे इसी स्थान पर प्राप्त हुआ—तो, मैं इस घर की चिर-ऋणी रहूँगी।

आज मैं इस घर से जा रही हूँ, मगर इस पवित्र घर ने जो मेरा उपकार किया है, मैं उसे जीवन-भर न भूल सकूँगी। तो आपसे भी मेरी यही प्रार्थना है कि अपनी इस पुत्री को कभी भूल न जाना कभी विस्मृत न कर देना।' और वह चुप हो गई।

फिर उसने मूला और धनावा सेठ को प्रणाम किया—ता-उन दोनों की आँखों से प्रेम के आँसू बहने लगे। दोनों ने पुत्री को अपने हृदय से लगाया। तब चन्दनबाला रथी, रथी-पत्नि वेरमा, घर के नौकर-चाकर, पास-पड़ोसी आदि सभी से असीम श्रद्धा के साथ मिली—और अन्त में सभी को उसने प्रणाम किया—तो सभी हर्ष से गद्गद् हो गये।

फिर वह सती पालकी में बैठ महाराज महारानी राज-कर्मचारी तथा कौशाम्बी के जनता से घिरी हुई राजमहल की ओर चली। उस समय सम्पूर्ण नगरी उसकी जय-जयकार से गूँज-सी उठी। पग-पग पर उसके दर्शनार्थियों की भीड़ बढ़ती ही चली गई—और कुछ ही क्षणों के उपरान्त तो वह बहुत ही विशाल दीख-पड़ने लगी। तो उस समय ऐसा जान पड़ता—मानो आज सम्पूर्ण कौशाम्बी उस सती के चरणों की धूल का अपने माथ पर धारण कर कृत-कृत्य हो जायेगी। पापों से मुक्त हो जायेगी। और वास्तव में, उस समय उस सती के चारों ओर इकट्ठे हुये वे स्त्री-पुरुष अपने मन में इसी विश्वास को धारण किये हुये थे—और उसकी जयजयकार करते हुये आत्म-सन्तोष का अनुभव कर रहे थे। मगर पालकी में बैठी हुई चन्दनबाला सोच रही थी—यह जयजयकार मेरी नहीं

है, यह धर्म की जयजयकार है। और धर्म की जयजयकार करती हुई आज कौशम्वी कितनी खुश है। तो, उसकी यह खुशी अमिट और अखण्ड हो।

और दो ही चार दिनों के वाद,

महाराज सन्तानिक को सूचना मिली—महाराज दधिवाहन सकुशल हैं और उन्होंने कौशम्वी आना स्वीकार कर लिया है—वे चल पड़े हैं—और इस समय कौशम्वी के मार्ग मे हैं। और इस शुभ सम्वाद को सुनकर महाराज की खुशी का पारावार न रहा। उन्होंने दधिवाहन के स्वागत् के निमित्त आवश्यक आदेश उसी समय अपने मन्त्रियों को दे दिये। और महाराज का आदेश मिलते ही समूची नगरी और राजमहल को मनोरम ढँग पर सजाया जाने लगा।

फिर, धर्मशील महाराज दधिवाहन के राजधानी के समीप आ पहुँचने की सूचना मिलने पर महाराज सन्तानिक उनके स्वागत् के लिये अपने मन्त्रियों और प्रतिष्ठित पुरवासियों के साथ नगर की सीमा की ओर चले। उनकी इच्छा थी, वह पवित्र विचारों वाले महाराज दधिवाहन का स्वागत् नगर की सीमा पर करें। तो, सन्तानिक और दधिवाहन के इस मिलन को देख लेने के लिये अन्य अनेक पुरवासी भी उस ओर चले।

और नगर की सीमा पर पहुँच कर उन्होंने देखा—महाराज दधिवाहन को देखते ही महाराज सन्तानिक उनके चरणों पर गिर पडे हैं। और इस दृश्य को देखते ही अपूर्व

प्रसन्नता का अनुभव कर, वहाँ पर इकट्ठे हुये वे सभी पुर वासी दोनों ही महाराज की जयजयकार कर स्वर्ग का धन्य भाग मानने लगे। और तभी, महाराज सन्तानिक, महाराज दधिवाहन से कहन लगे—'आप मुझ पापी को क्षमा करें! मैं महापातकी हूँ—मैंने काम के वशीभूत होकर आपको अनेक कष्ट दिये हैं। मेरे ही कारण धारिणी जैसी सती और पतिव्रता नारी को अपने प्राणों को त्याग देना पड़ा है। आपकी पुत्री वसुमति को जो अब सती चन्दनबाला के नाम से पुकारी जाती है, बहुत से दुख सहन करने पड़े हैं। मैं महापापी हूँ मगर आप उदारता-पूर्वक मुझे क्षमा कर दें।'

और महाराज दधिवाहन महाराज सन्तानिक को अपने गले से लगाकर बोले—'आप मेरे सम्बन्धी और मित्र हैं—हो जो होना था वह हो गया—अब उस पर खेद करना व्यर्थ है। आज इन दोनों की मित्रता पुनः स्थापित हुई है—और मुझे विश्वास है, यह चिरस्थायी रहेगी—हाँ, मन के दुख को दूर कर अब आप प्रसन्नता का अनुभव कीजिये।

और महाराज दधिवाहन के इन शब्दों को सुनकर महाराज सन्तानिक गद्गद् हो गये।

फिर वे दोनों ही महाराज एक ही रथ में बैठकर कौशाम्बी के राजमहल की ओर चले—और कौशाम्बी की जनता उनकी जयजयकार करती हुई उनके उस रथ के पीछे-पीछे!

और कुछ ही देर बाद जब दोनों ही महाराज कौशाम्बी के राजमहल में आ पहुँचे—तो दोनों ही बहुत खुश थे।

फिर, कई दिनों के बाद, एक दिन—

सती चन्दनवाला और महारानी मृगावती की उपस्थिति में महाराज सन्तानिक, महाराज दधिवाहन से कहने लगे—'हे महाराज ! पुत्री चन्दनवाला के सत्य के प्रताप से ही मित्र-रूप में मैं और आप एकवार फिर मिले हैं—नहीं तो कौन जानता है—कि इस प्रकार मैं और आप कभी मिलते भी ! फिर, इस सती ने मेरे मन के सभी भ्रमों को दूर कर दिया है—और मैं समझ गया हूँ—कि राजा वह है, जो अपने सुख को नहीं, प्रजा के हित को देखता है। जो, स्वयं को प्रजा का स्वामी नहीं, उसका सेवक समझता है। जो, प्रजा को हर प्रकार से सुखी और सानन्द करने के लिये अपने सभी सुखों का त्याग कर देता है। तो, महाराज अब मेरी इच्छा है—कि चम्पापुरी और कौशम्बी के राज्य को आप अपने हाथों मे लें और मैं आपके साथ में रहकर राज्य-कार्य करने की शिक्षा ग्रहण करूँ। मैं आपका अनुगत रहूँ।'

और महाराज सन्तानिक के इन शब्दों को सुनकर महाराज दधिवाहन मन मे प्रसन्नता का अनुभव कर उनसे बोले—'आपके ये शब्द, महाराज ! इस बात के स्पष्ट द्योतक हैं कि अब आप धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करने में समर्थ हैं। आपके इन शब्दों को सुनकर इस समय मैं अपने मन मे अपार प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ—तो, महाराज ! मेरा अनुरोध स्वीकार कीजिये। मैं अब बूढा हुआ—तो, मुझे अब अपना समय भगवान् के चिन्तन मे व्यतीत करने दीजिये—और दोनों ही देशों के राज्य का भार आपही सँभाले रहिये।

तब आपकी कृपा से मैं इस भार से मुक्त हो गया हूँ—तो, अब मुझे क्षमा कीजिये।

मगर महाराज सम्तानिक को यह बात रुचिकर न जान पड़ी—और उन्होंने फिर अनुरोध किया—तो, महाराज दधिवाहन ने फिर क्षमा माँगी—और अनुरोध और क्षमा के इस तारतम्य को बराबर बढ़ता ही जाता देख चन्दनबाला कहने लगी—"हे पितावृय ! आप त्याग की पवित्र भावना से ओत-प्रोत आप दोनों की इन बातों को सुनकर इस समय मैं अपार प्रसन्नता का अनुभव कर रही हूँ; मगर जब आप दोनों ही प्रजा के हित में विश्वास करने वाले हैं—तो मुझे यह उचित नहीं जान पड़ता कि आप राज्य का त्याग करें। इसके विपरीत मैं तो यही ठीक समझती हूँ कि अपनी प्रजा की भलाई के लिये आप दोनों ही इस भार को ग्रहण करें। फिर जो भार दो के उठाये से उठ सकेगा—उसे एक किस प्रकार उठा सकता है। तो मेरी सम्मति में यही ठीक जान पड़ता है कि अपने-अपने भार को आप दोनों ही वहन करें।"

और सती चन्दनबाला की इस बात को सुनकर वे दोनों ही मौन रहे। उन दोनों ने ही उसे स्वीकार किया।

तो शुभ-दिन महाराज सम्तानिक ने प्रसन्नता-पूर्वक अपने हाथों से महाराज दधिवाहन् का चम्पापुरी के राज्य पर अभिषेक किया। और अपने आदर्श राजा को एक बार फिर प्राप्त कर चम्पापुरी हँस पड़ी।

ग्रहण करेगी। तो, उस अवधि तक उसे गृह-वास ही करना होगा। अपना जीवन इसी प्रकार व्यतीत करना होगा।

और इस तरह सोचकर वह सोचते-सोचते ठहर गई। फिर, वह नित्य के अपने कार्यों मे लगी।

और उन्हीं दिनों, एक दिन—

महाराज दधिवाहन, महाराज सन्तानिक और महारानी मृगावती परस्पर यह निर्णय कर—कि पुत्री की अवस्था अब काफी होगई—तो, उसका विवाह अब कर देना चाहिये—इस विषय मे पुत्री के विचार जानने के लिये उसके अध्यन-कक्ष मे पहुँचे—और उन तीनों का एक ही साथ स्वागत् करती हुई चन्दनबाला बोली—'मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिये।' फिर, तीनों को आसन पर विठा, हाथ जोड़कर कहने लगी—'आप तीनों का एक ही साथ दर्शन कर मुझे बहुत ही सुख हुआ है। मेरा अहोभाग्य है—कि आप तीनों ने एक ही साथ पधार कर मुझ पर कृपा की है। आज्ञा दीजिये।'

और अपनी बुद्धिमती पुत्री के इन शब्दों को सुनकर तीनों ही बहुत अधिक प्रसन्न हुये—और मृगावती कहने लगी—'पुत्री! तुम जैसी सती को कन्या के रूप मे प्राप्त कर हम तीनों ही बड़े भाग्यों वाले हैं। तो, इस समय जो-कुछ भी तुमने कहा—वह कथन तुम्हारे योग्य ही है। हम समझते हैं, अपने इस कथन मे तुमने हमारे इस समय के उद्देश्य को बहुत अशों में पूर्ण कर दिया है। तो—पुत्री, अब हमारी केवल एक ही अभिलाषा है—और हमे विश्वास है—कि तुम उसे अवश्य,

सहारे आगे बढ़ी—और अब बहुत आगे निकल आई हो। अपनी अच्छी मा धारिणी की एक आज्ञा को तो तुमने पूर्ण कर लिया है, मगर अभी उसकी दूसरी आज्ञा शेष है—तो और आगे बढ़ो—और आत्मा से परमात्मा बन जाओ। संसार पर अमृत की वर्षा करती हुई तुम आत्म-कल्याण के पथ पर आगे बढ़ो—और मोक्ष को प्राप्त करलो। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाओ।

और एक ओर से निश्चिन्त होकर आज चन्दनबाला को अपने ये शब्द बहुत ही रुचिकर जान पड़े।

तो वह सोचने लगी—अपनी अच्छी मा धारिणी की दूसरी आज्ञा के पालन के निमित्त अब उसे आत्म-कल्याण के पथ पर आगे बढ़ना है—और केवलज्ञान को प्राप्त कर जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाना है—तो उसे दीक्षा ग्रहण कर साध्वी बनना होगा। तो इस प्रकार वह नारी-समाज के कल्याण के लिये धर्मानुकूल मार्ग भी प्रशस्त कर देगी—और स्वयं भी जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जायेगी। तो, इसलिये उसे गृह का त्याग कर देना होगा। तो यह शुभ-कार्य उसे तुरन्त ही कर डालना चाहिये।

मगर तभी उसे ध्यान आया—भगवान् महावीर का तप अभी कहाँ पूर्ण हुआ है। तो अभी उसे रुकना होगा। तो, छद्मावस्था की अपनी अवधि को पूर्ण कर तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करने पर जब भगवान् संसार में प्रगट रूप से विचरने लगेंगे—तभी वह गृह का त्याग कर उनसे दीक्षा

को उसकी सम्मति लेकर ही करना उचित है। और यह हम भली प्रकार से जानते हैं कि तुम अपनी भलाई और बुराई की बात को ठीक प्रकार से समझती हो। तो, इस समय हम तीनों ही इस विषय में तुम्हारी स्वीकृति ही लेने के लिये तुम्हारे पास आये हैं। हमें पूर्ण विश्वास है, तुम हमारी इच्छा को पूर्ण करोगी।' यह कहकर मृगावती मौन हो गई।

तो, महाराज सन्तानिक ने कहा—'हाँ-पुत्री, तुम्हारी माता ने ठीक ही कहा है। अब हम बूढ़े हुये—तो, हम सब की यह प्रबल इच्छा है कि तुम्हारे विवाह को भी अपनी आँखों से देख लें—और इस ओर से भी चिन्ता-रहित हो जायें।'

और महाराज सन्तानिक के चुप होते ही महाराज दधिवाहन बोले—'मैं यह भली भांति जानता हूँ, पुत्री! बुद्धिमती होने के नाते तुम सभी बातों को भली प्रकार से समझती हो—फिर, तुम्हारी मौसी जी ने इस समय सभी-कुछ तुमसे कह भी दिया है—तो, पुत्री! अपनी स्वीकृति देकर हमारी इच्छा को पूर्ण करो। माता-पिता होने के नाते हमें अपना कर्त्तव्य पूरा करने दो।' यह कहकर महाराज दधिवाहन भी चुप हो गये।

फिर, इस विषय में चन्दनबाला के विचार जान लेने के लिये वे तीनों ही पुत्री के मुख की ओर देखने लगे।

और कुछ क्षणों तक मौन रहने के पश्चात्, अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता के साथ, चन्दनबाला उनसे कहने लगी—'हे माता! हे पिता द्वय! आप तीनों का यह कथन उचित और

ही पूर्ण कर देगी।' और यह कहकर वह चन्दनबाला के मुख की ओर देखने लगी।

तो चन्दनबाला बोली—'मैं किस योग्य हूँ—माता! यह तो आपकी कृपा है; जो मुझे मिल-पा रही है। तो, आप आज्ञा दीजिये। मुझे विश्वास है, माता की आज्ञा धर्म को बढ़ाने वाली ही होगी।'

और, मृगावती कहने लगी—'पुत्री! जिस धर्म का हम पालन कर रहे हैं—हमारी अभिलाषा उस धर्म को बढ़ाने वाली ही है। हम गृहस्थी हैं, पुत्री! तो, यह हमारा धर्म है कि सन्तान के व्यस्क होने पर हम उसका विवाह करदें। हम देख रहे हैं कि तुम विवाह के योग्य हो चुकी हो—तो, अपने गृहस्थ-धर्म का पालन करने के निमित्त हमें तुम्हारा विवाह कर देना चाहिये। अपनी सन्तान के इस योग्य होने पर अगर माता-पिता उसका विवाह नहीं करते हैं—तो संसार उन पर लांछन लगाता है। तरह-तरह से वह उन्हें बुरा-भला कहता है। तो उन माता-पिता का समाज में बैठना दूभर हो जाता है।

फिर हम तुम्हारे विवाह का आनन्द भी लेना चाहते हैं। अब हमारी यह बहुत बड़ी अभिलाषा है—कि हम तुम्हारे विवाहोत्सव का भी अपनी आँखों से देखलें। फिर, पुत्री! इस विषय में हम तुमसे पूछ इसलिये रहे हैं—क्योंकि यह भी माता-पिता का धर्म है—कि जब उसकी सन्तान इस योग्य हो जाये—कि वह अपने हित और अहित की बात को भली भाँति समझले तो उससे सम्बन्धित कोई भी काम मां-बाप

को उसकी सम्मति लेकर ही करना उचित है। और यह हम भली प्रकार से जानते हैं कि तुम अपनी भलाई और बुराई की बात को ठीक प्रकार से समझती हो। तो, इस समय हम तीनों ही इस विषय में तुम्हारी स्वीकृति ही लेने के लिये तुम्हारे पास आये हैं। हमें पूर्ण विश्वास है, तुम हमारी इच्छा को पूर्ण करोगी।' यह कहकर मृगावती मौन हो गई।

तो, महाराज सन्तानिक ने कहा—'हाँ-पुत्री, तुम्हारी माता ने ठीक ही कहा है। अब हम बूढ़े हुये—तो, हम सब की यह प्रबल इच्छा है कि तुम्हारे विवाह को भी अपनी आँखों से देख लें—और इस ओर से भी चिन्ता-रहित हो जायें।'

और महाराज सन्तानिक के चुप होते ही महाराज दधि-वाहन बोले—'मैं यह भली भाँति जानता हूँ, पुत्री! बुद्धिमती होने के नाते तुम सभी बातों को भली प्रकार से समझती हो—फिर, तुम्हारी मौसी जी ने इस समय सभी-कुछ तुमसे कह भी दिया है—तो, पुत्री! अपनी स्वीकृति देकर हमारी इच्छा को पूर्ण करो। माता-पिता होने के नाते हमें अपना कर्त्तव्य पूरा करने दो।' यह कहकर महाराज दधिवाहन भी चुप हो गये।

फिर, इस विषय में चन्दनबाला के विचार जान लेने के लिये वे तीनों ही पुत्री के मुख की ओर देखने लगे।

और कुछ क्षणों तक मौन रहने के पश्चात्, अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता के साथ, चन्दनबाला उनसे कहने लगी—'हे माता! हे पिता द्वय! आप तीनों का यह कथन उचित और

मुझ पर आपकी महती कृपा का परिचायक है—तो मैं स्वयं को धन्यभाग समझती हूँ। फिर मैं विवाह की प्रथा में विश्वास भी करती हूँ। जब आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव भगवान् महावीर ने भी अपना विवाह किया था—तो इसे स्वीकार कर लेने में मुझे आपत्ति ही क्या हो सकती है। फिर आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव ने अपना विवाह कर संसार के सम्मुख इस आदर्श को रक्खा ही इसलिये था—कि जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन न कर सकें—वे सदाचार-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने के लिये अपना विवाह कर लें। तो मैं मानती हूँ विवाह कर लेना कोई धर्म के विरुद्ध कार्य नहीं है—बल्कि बुद्धि-जीवी मनुष्य को, ब्रह्मचर्य पालन न कर सकने की दशा में सदाचार-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये एक उत्तम उपाय है। मनुष्य पशु न बन जाये—इस ओर से उसकी रक्षा करने के लिये एक सीधा सरल और पूर्णरूप से पवित्र उपाय है।'

और एक क्षण के मौन के पश्चात् वह फिर कहने लगी—'मगर जीवन को सर्वोत्तम रूप से व्यतीत करने का एक-मात्र उपाय ब्रह्मचर्य का पालन करना ही है। फिर धर्मशीला माता धारिणी ने मुझे सर्वदा इसी बात की शिक्षा दी थी—और मुझसे यह आशा प्रकट की थी—कि मैं आजन्म अखंड ब्रह्मचर्य का पालन कर एक आदर्श साध्वी बनूँ—और अज्ञान के अंधकार के कूप में गिरी हुई नारी-जाति को ज्ञान के तेजोमय प्रकाश के पथ पर अग्रसर होने के लिये उसकी मार्ग-दर्शिका बन जाऊँ। तो आप तीनों ही विश्वास कीजिये—कि

मैं माता की आज्ञानुसार उसी ओर प्रयत्नशील हूँ। मैं माता के स्वप्न को पूर्ण कर सकूँगी-या नहीं-यह तो समय ही बतलायेगा, मगर मेरे इन शब्दों मे आप विश्वास कीजिये—कि मैं ऐसा कोई भी कार्य नहीं करूँगी, जिससे मेरे कारण ससार आपको लाञ्छित करे—और आपको दुख हो। आप तीनों को मेरे कारण ससार की बुरी-भली बातें सुननी पड़ें।'

'समय-समय पर माता धारिणी के द्वारा दी गई पवित्र और कल्याणकारी शिक्षा का एक-एक अक्षर मेरे पास सुरक्षित है—और मैं उसी शिक्षा के प्रकाश मे आगे बढ रही हूँ—तो, आप निश्चिन्त रहिये। माता की एक अभिलाषा को तो मैंने आप तीनों की कृपा से पूर्ण कर दिया है—और उसकी दूसरी इच्छा को भी पूर्ण करने की प्रबल इच्छा रखती हूँ। मैं जानती हूँ—कि मेरा मार्ग बहुत कठिन है। अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना बहुत कठिन है, मगर माता धारिणी का आशीर्वाद मेरे साथ है—फिर, भगवान् महावीर के दर्शन कर इस ओर की मेरी शक्ति और भी बढ़ गई है- तो, आप इस ओर की चिन्ता को अपने पास फटकने भी मत दीजिये। ससार की कोई भी शक्ति मुझे अपने व्रत से नहीं डिगा सकती। मुझे अपनी रक्षा करने का उपाय भी माता ने बता दिया है - तो, आप निश्चिन्त रहिये। आप लेश-मात्र भी चिन्ता न कीजिये।'

और अपने इस कथन को इस प्रकार समाप्त कर चन्दनबाला मौन होगई—तो, वे तीनों ही अपार प्रसन्नता का अनुभव कर उससे बोले—'पुत्री! तुम्हारे ये विचार उत्तम है।

हम तुम्हारी सफलता की हृदय से कामना करते हैं। हमें तुम पर पूर्ण विश्वास है।'

फिर अपने मन में कुछ निर्णय कर मृगावती कहने लगी—'पुत्री! तुम्हारा यह निर्णय मुझे बहुत ही रुचिकर जान पड़ा—तो चाहती हूँ, इस परम् पवित्र प्रतिज्ञा को मैं भी धारण करूँ। वैसे धर्ममय जीवन व्यतीत करने में तो मैं पहिले से ही श्रद्धा रखती हूँ, मगर अब ब्रह्मचर्य का पालन कर तुम्हारे साथ ही साध्वी बन जाना चाहती हूँ। तुमने ही सर्व प्रथम मेरे सम्मुख ब्रह्मचर्य पालन करने का यह पवित्र आदर्श रक्खा है—पुत्री! तो अब से मैं तुम्हें पुत्री के स्थान पर गुरु-आनी स्वीकार करती हूं। मुझे विश्वास है, तुम भी कृपा कर मुझे अपनी शिष्या बनाना स्वीकार करोगी। तो, अब मैं तुम से यह प्रतिज्ञा कर कहती हूँ—कि अब से मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करूँगी—और तुम जिस मार्ग पर आगे बढ़ोगी—उसी पथ पर तुम्हारे पीछे-पीछे मैं भी चलूँगी।' और यह कहकर उसने अपना शीश सती चन्दनबाला के चरणों में रख दिया।

और अपनी आदर्श पत्नि के इन शब्दों को सुनकर महाराज सतानिक को बहुत सुख हुआ। तो उन्होंने और महाराज दधिवाहन ने यह शुभ निर्णय करने पर महारानी मृगावती को बधाई दी।

फिर अपनी पत्नि के निर्णय के कारण प्रसन्न हुये महाराज सतानिक प्रतिज्ञा कर चन्दनबाला से कहने लगे—'पुत्री! महारानी के इस निर्णय का मैं हृदय से स्वागत् करता हूँ—

और मैं भी तुम्हारे सामने ही वचन-वद्ध होकर कहता हूँ-- पुत्री ! कि आज से मैं भी पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करता हूँ और भविष्य में मन, वचन और शरीर से अपनी आज की प्रतिज्ञा का पूर्णरूपेण पालन करूँगा।'

और महाराज सन्तानिक के मौन होते ही महाराज दधिवाहन उन्हें बधाई देने के उपरान्त पुत्री से कहने लगे — 'पुत्री ! वैसे तो मैं, प्रभु की असीम कृपा के कारण, प्रारम्भ से ही नीति-पूर्वक जीवन व्यतीत करने का अभ्यासी हूँ, मगर आज मैं भी तुम्हारे सम्मुख प्रतिज्ञा कर कहता हूँ—कि मैं भी अब जीवन-पर्यन्त पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। स्वप्न मे भी अपने इस व्रत को खडित नहीं होने दूंगा।'

और उनकी इस प्रतिज्ञा को सुन वहाँ पर उपस्थित उन सभी ने उनकी सराहना की।

फिर, कुछ ही काल के पश्चात्,

भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त होने का समाचार समूचे ससार में व्याप्त हो गया—और इस शुभ-समाचार को सती चन्दनबाला ने भी सुना। तो, महाराज सन्तानिक, महारानी मृगावती आदि से वह बोली—'जिस शुभ-सवाद को सुनने के लिये मैं अभी तक यहाँ पर ठहरी थी, वह आज मैने सुन लिया। भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है—तो, अब मैं तुरन्त ही उनके दर्शनों के निमित्त तथा सयम स्वीकार करने के लिये, उनके पास जाना चाहती हूँ। तो, अब आप मुझे विदा दीजिये।'

और सती चन्दनबाला के इस कथन को सुनकर सभी बहुत अधिक प्रसन्न हुए। फिर सभी ने उसके कल्याण की कामना करते हुए उसे सहर्ष विदा दी। तभी मृगावती ने उससे कहा – 'हे सती! मेरी भी यह प्रबल इच्छा है—कि मैं भी भगवान् महावीर की शरण में जाकर संयम स्वीकार करूँ परन्तु अनुकूल परिस्थिति न होने के कारण इस समय तो विवश हूँ—लेकिन मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही वह समय आयेगा—जब मेरी भी यह इच्छा पूर्ण होगी।' और चन्दनबाला से इस प्रकार कहने के उपरान्त वह अपने नयनों में जल भर लाई।

तो उसे सान्त्वना देते हुए चन्दनबाला बोली— धीरज धारण करो! आपके पावन मन की यह पावन अभिलाषा शीघ्र ही पूर्ण होगी।

और इस प्रकार मृगावती को सान्त्वना प्रदान कर चन्दनबाला भगवान् महावीर की शरण में जाने के लिये महल के द्वार की ओर चली—तो इस समाचार को सुनकर आये हुए धनावह सेठ, रानी रानी-परिजन मूला आदि को राज महल के प्रांगण में एकत्र देखकर ठहर गई। फिर उन सभी का यथोचित् सत्कार कर वह आगे बढ़ी। मगर राजमहल के द्वार को लाँघकर जैसे ही वह बाहर आई—तो नगर निवासियों की अपार भीड़ ने उसे घेर लिया। 'सती चन्दन-बाला संयम स्वीकार करने के लिये आज ही और अभी भगवान महावीर की शरण में जा रही है' इस समाचार को सुनकर उसके दर्शनों के निमित्त, वे वहाँपर एकत्र हो गये थे। फिर वे उसको घेरकर उसकी जय-जय कार करते हुये उसके

साथ-साथ चले। और जब वे सभी उसके साथ-साथ नगर की सीमा पर आ-पहुँचे—तो, चन्दनबाला ने समझा-बुझाकर उन्हें विदा किया—और सती की आज्ञा को शिरोधार्य कर सभी वे अपने-अपने घरों को वापिस चले आये।

और चन्दनबाला मार्ग मे आगे बढी। फिर, कुछ ही समय के उपरान्त, भगवान् के समवशरण मे वह जा-पहुँची—तो, भगवान् के दर्शन कर वह कृत्य-कृत्य हो गई। तब, भगवान् से प्रार्थना कर वह कहने लगी—'हे प्रभो! ससार के जीव जन्म-मरण के बन्धन मे जकडे हुये अपार दुख भोग रहे हैं—और इस बन्धन से मुक्त होने के लिये मैं आपकी शरण मे आई हूँ। मुझ पर कृपा कीजिये—और मुझे इस दुख से मुक्त कीजिये—प्रभु!' और इस प्रकार निवेदन कर वह भगवान् के सम्मुख झुक-सी गई।

और भगवान ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर उसे कर सयम की दीक्षा दी।

वास्तव मे, वह पहिली स्त्री थी, जिसने भगवान् महावीर से समय की दीक्षा ली—तो, भगवान् ने उसे साध्वी-सघ की नायिका के पद पर नियुक्त किया। कुछ ही समय के उपरान्त, मृगावती ने भी दीक्षा ग्रहण की और वह भी साध्वी-सघ मे सम्मलित हो गई। फिर, काली, महाकाली, सुकाली आदि अनेक राजघरानों की स्त्रियाँ सती चन्दनबाला की शिष्य बनीं। तो, अपनी ३६ हज़ार शिष्यायों के साथ चन्दनबाला ससार का कल्याण करती हुई सर्वत्र विचरण करने लगी।

फिर, बहुत दिनों के बाद एक दिन

वह जन-कल्याण के लिए विचरती हुई एक बार कौशाम्बी पधारीं—भाग्यवश उन्हीं दिनों भगवान् महावीर का समवशरण भी कौशाम्बी में ही हो रहा था। और यह जानकर सती मृगावती ने उनसे प्रार्थना की—"आपकी आज्ञा हो—तो, मैं भगवान् के दर्शन करने का लाभ-प्राप्त करूँ। भगवान् के दर्शन करने की मेरी इच्छा है—और भाग्यवश वह आजकल कौशाम्बी में ही पधारे हुये हैं—अगर आज्ञा दें—तो, उनके दर्शनों के निमित्त मैं उनके स्थान पर चली जाऊँ।

और चन्दनबाला ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर उसे भगवान् के समवशरण में जाने की आज्ञा दे दी।

उस दिन भगवान् के दर्शनों के निमित्त सूर्य और चन्द्र भी समवशरण में आये हुये थे—तो रात्रि हो जाने पर भी वहाँ पर दिन का प्रकाश फैला था—और सती मृगावती इसी भ्रम में कि अभी तो काफी दिन है—भगवान् के समवशरण में बैठी ही रही—मगर जब सूर्य और चन्द्र भगवान् के दर्शन कर अपने-अपने स्थानों को चले गये—तो वहाँ भी रात्रि का अंधकार घनीभूत हो उठा—और यह देखकर मृगावती चिन्तित! और वह शीघ्रता से अपने स्थान की ओर लौटती हुई, मार्ग में सोचने लगी—रात्रि में अपने स्थान से बाहर न रहना—हम साध्वियों के लिए यह एक नियम है—तो असमय आज मुझसे इस नियम का उल्लंघन हो गया है। तो गुरुआनी के उपालम्भ करने पर मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगी।

और यही सब सोचती-विचारती जब वह गुरुआनी को वन्दना करने के लिये चन्दनबाला के सम्मुख पहुँची—तो, चन्दनबाला उससे कहने लगी—'जब आप-जैसी कुलीन साध्वी भी नियमों का पालन करने मे ऐसी लापरवाही कर सकती हैं—तो, साधारण साध्वियों की तो फिर बात ही क्या है। जब हमारे सघ का यह नियम है—कि सूर्यास्त के बाद कोई भी साध्वी अपने स्थान से बाहर नहीं रह सकती—तो, आज आपने अपने इस नियम का उलघन किया है। आपको ऐसा नहीं करना चाहिये था। भविष्य मे ऐसा कभी न कीजिये।'

और सती मृगावती ने गुरुआनी की आज्ञा को शिरोधार्य किया। उसने अपनी निर्दोपता प्रगट करने के लिये उससे कुछ भी न कहा—और वह मौन ही रही।

फिर, सभी साध्वियाँ सोगईं—और सती चन्दनबाला भी, मगर मृगावती न सो सकी। और उस समय वह यही सोच रही थी—सघ के नियम का पालन करने के लिये मुझे समय का ध्यान रखना ही चाहिये था। तो, आचार्या ने ठीक ही कहा था। किसी भी सती को नियम भग करना शोभा नहीं देता। तो, फिर जाने में हुई हो चाहे अनजाने में, यह मेरी बहुत बड़ी भूल थी। नियम, नियम है—और उसका पालन करना मेरा परम पवित्र कर्त्तव्य है ।

और इस प्रकार पश्चाताप करते करते उसने क्षपक श्रेणी पर आरूढ हो, ध्यान की तीव्रता की सहायता से घनघातिक कर्मों को नष्ट कर दिया—तो, पूर्ण केवलज्ञान को प्राप्त कर वह सम्पूर्ण हो गई।

फिर, बहुत दिनों के बाद एक दिन,

वह जन-कल्याण के लिये विचरती हुई एक बार कौशाम्बी पधारीं—सम्भवतः उन्हीं दिनों भगवान् महावीर का समवशरण भी कौशाम्बी में ही हो रहा था। और यह जानकर सती मृगावती ने उनसे प्रार्थना की—'आपकी आज्ञा हो—तो मैं भगवान् के दर्शन करने का लाभ-प्राप्त करूँ। भगवान् के दर्शन करने की मेरी इच्छा है—और भाग्यवश वह आजकल कौशाम्बी में ही पधारे हुये हैं—अगर आज्ञा है—तो उनके दर्शनों के निमित्त मैं उनके स्थान पर चली जाऊँ।'

और चन्दनबाला ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर उसे भगवान् के समवशरण में जाने की आज्ञा दे दी।

उस दिन भगवान् के दर्शनों के निमित्त सूर्य और चन्द्र भी समवशरण में आये हुये थे—तो रात्रि हो जाने पर भी वहाँ पर दिन का प्रकाश फैला था—और सती मृगावती इसी भ्रम में कि अभी तो काफी दिन है—भगवान् के समवशरण में बैठी ही रही—मगर जब सूर्य और चन्द्र भगवान् के दर्शन कर अपने-अपने स्थानों को चले गये—तो वहाँ भी रात्रि का अंधकार घनीभूत हो उठा—और यह देखकर मृगावती चिन्तित! और वह शीघ्रता से अपने स्थान की ओर लौटती हुई, मार्ग में सोचने लगी—रात्रि में अपने स्थान से बाहर न रहना—हम साध्वियों के लिये यह एक नियम है—तो अवश्य आज मुझसे इस नियम का उल्लंघन हो गया है। तो गुरुपत्नी के उपालम्भ करने पर मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगी।

और यही सव सोचती-विचारती जव वह गुरुआनी को वन्दना करने के लिये चन्दनवाला के सम्मुख पहुँची—तो, चन्दनवाला उससे कहने लगी—'जव आप-जैसी कुलीन साध्वी भी नियमों का पालन करने मे ऐसी लापरवाही कर सकती हैं—तो, साधारण साध्वियों की तो फिर वात ही क्या है। जव हमारे सघ का यह नियम है—कि सूर्यास्त के वाद कोई भी साध्वी अपने स्थान से वाहर नहीं रह सकती—तो, आज आपने अपने इस नियम का उलघन किया है। आपको ऐसा नहीं करना चाहिये था। भविष्य मे ऐसा कभी न कीजिये।'

और सती मृगावती ने गुरुआनी की आज्ञा को शिरोधार्य किया। उसने अपनी निर्दोपता प्रगट करने के लिये उससे कुछ भी न कहा—और वह मौन ही रही।

फिर, सभी साध्वियाँ सोगईं—और सती चन्दनवाला भी, मगर मृगावती न सो सकी। और उस समय वह यही सोच रही थी—सघ के नियम का पालन करने के लिये मुझे समय का ध्यान रखना ही चाहिये था। तो, आचार्या ने ठीक ही कहा था। किसी भी सती को नियम भग करना शोभा नहीं देता। तो, फिर जाने मे हुई हो चाहे अनजाने में, यह मेरी वहुत वड़ी भूल थी। नियम, नियम है—और उसका पालन करना मेरा परम पवित्र कर्त्तव्य है।

और इस प्रकार पश्चाताप करते करते उसने क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो, ध्यान की तीव्रता की सहायता से घनघातिक कर्मों को नष्ट कर दिया—तो, पूर्ण केवलज्ञान को प्राप्त कर वह सम्पूर्ण हो गई।

और तभी उसने गहरे अन्धकार के बीच देखा—एक काला सर्प उसी ओर आ रहा है, जिस ओर आचार्या चन्दनबाला सोई हैं। आचार्या का बांया हाथ उसके मार्ग में है—और यह देखकर वह झपटकर उठी। उसने चन्दनबाला के हाथ को सर्प के स्पर्श से बचाने की इच्छा से, उसके मार्ग से हटा दिया। सर्प चला गया; मगर चन्दनबाला की नींद टूट गई। तो उसने पूछा—'कौन है? मेरे हाथ का स्पर्श किसने किया?

'मैं हूँ आचार्या! मृगावती!' सती मृगावती ने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया।

'क्या आप अभी तक भी नहीं सोईं? फिर, आपने मुझे क्यों जगाया? कोई हेतु?'

'अभी-अभी एक काला सर्प इस ओर से गया है। आपका हाथ उसके मार्ग में था। मैंने इसीलिये आपके हाथ को उसके मार्ग से हटाया था परन्तु प्रयत्न करने पर भी कि आपकी निद्रा भंग न हो आपकी नींद खुल ही गई। मुझे दुख है। आचार्या! क्षमा कीजिए।'

और मृगावती के इस कथन को सुनकर चन्दनबाला ने उससे पूछा—'इस अँधेरे पाख में जब सर्वत्र ही अन्धकार झुका है—फिर घर के भीतर तो वह और भी गहरा है—तो इस घनीभूत अन्धकार में आपको काला सर्प किस प्रकार दीख पड़ा?

'आपकी कृपा से ही-आचार्या ! आपकी कृपा हो—तो, क्या-कुछ नहीं हो सकता। जब आप-जैसी कृपालु आचार्या की शिष्या होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है—तो, दिन और रात में मेरे लिये क्या अन्तर हो-सकता है। प्रकाश हो या गहरा अंधकार—मुझे क्या दिखलाई नहीं देगा। जब, मर्यादा भग न हो—इसलिये आपने कृपाकर मेरी भूल की उपेक्षा न की—और मुझे उपालम्भ दिया ही—तो, मेरे सभी पाप नष्ट हो गये—तो, मैं इस अधकार मे भी उस काले सर्प को देख सकी।'

तो, चन्दनबाला ने फिर पूछा—'आपके इस कथन से तो यही स्पष्ट जान पड़ता है—कि आपको ज्ञान की प्राप्ति हुई है; मगर वह पूर्ण है या अपूर्ण ?'

'जब आपकी मुझ पर पूर्ण कृपा है—तो, पूर्ण ज्ञान ही मुझे प्राप्त हुआ है, आचार्या !'

'और पूर्ण ज्ञान का अर्थ है—केवलज्ञान ! मुझे क्षमा करना, सती !' और सती मृगावती से इस प्रकार कहने के उपरान्त सती चन्दनबाला उसकी वन्दना करने लगी—और मृगावती अपनी आचार्या चन्दनबाला की।

फिर, यह सोचकर कि मुझसे केवलज्ञान-प्राप्त सती की अवज्ञा हुई है, सती चन्दनबाला पश्चाताप की अग्नि मे अपने पाप को नष्ट करने लगी। तो, कुछ ही समय के उपरान्त, चन्दनबाला ने भी क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो, गहरे पश्चाताप की तीव्र ज्वाला मे अपने घातिक कर्म को नष्ट कर दिया।

और वह केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वाङ्ग-पूर्ण हो गई।

और तभी उसने गहर अन्धकार के बीच देखा—एक काला सर्प उसी ओर आ रहा है, जिस ओर आचार्या चन्दनबाला सोई हैं। आचार्या का बांया हाथ उसके मार्ग में है—और यह देखकर वह अपटकर उठी। उसने चन्दनबाला के हाथ को सर्प के स्पर्श से बचाने की इच्छा से, उसके मार्ग से हटा दिया। सर्प चला गया; मगर चन्दनबाला की नींद टूट गई। तो उसने पूछा—'कौन है? मेरे हाथ का स्पर्श किसने किया?

'मैं हूँ, आचार्या! मृगावती!' सती मृगावती ने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया।

क्या आप अभी तक भी नहीं सोई? फिर, आपने मुझे क्यों जगाया? कोई हेतु?'

'अभी-अभी एक काला सर्प इस ओर से गया है। आपका हाथ उसके मार्ग में था। मैंने इसीलिये आपके हाथ को उसके मार्ग से हटाया था; परन्तु प्रयत्न करने पर भी कि आपकी निद्रा भंग न हो आपकी नींद खुल ही गई। मुझे दुःख है, आचार्या! क्षमा कीजिये।'

और मृगावती के इस कथन को सुनकर चन्दनबाला ने उससे पूछा—'इस अँधेरे रात्रि में जब सर्वत्र ही अन्धकार फैला है—फिर घर के भीतर तो वह और भी गहरा है—तो इस घनीभूत अन्धकार में आपको काला सर्प किस प्रकार दीख पड़ा?

'आपकी कृपा से ही-आचार्या। आपकी कृपा हो—तो, क्या-कुछ नहीं हो सकता। जब आप-जैसी कृपालु आचार्या की शिष्या होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है—तो, दिन और रात में मेरे लिये क्या अन्तर हो-सकता है। प्रकाश हो या गहरा अंधकार—मुझे क्या दिखलाई नहीं देगा। जब, मर्यादा भग न हो—इसलिये आपने कृपाकर मेरी भूल की उपेक्षा न की—और मुझे उपालम्भ दिया ही—तो, मेरे सभी पाप नष्ट हो गये—तो, मैं इस अधकार मे भी उस काले सर्प को देख सकी।'

तो, चन्दनबाला ने फिर पूछा—'आपके इस कथन से तो यही स्पष्ट जान पड़ता है—कि आपको ज्ञान की प्राप्ति हुई है, मगर वह पूर्ण है या अपूर्ण ?'

'जब आपकी मुझ पर पूर्ण कृपा है—तो, पूर्ण ज्ञान ही मुझे प्राप्त हुआ है, आचार्या।'

'और पूर्ण ज्ञान का अर्थ है—केवलज्ञान। मुझे क्षमा करना, सती।' और सती मृगावती से इस प्रकार कहने के उपरान्त सती चन्दनबाला उसकी वन्दना करने लगी—और मृगावती अपनी आचार्या चन्दनबाला की।

फिर, यह सोचकर कि मुझसे केवलज्ञान-प्राप्त सती की अवज्ञा हुई है, सती चन्दनबाला पश्चाताप की अग्नि मे अपने पाप को नष्ट करने लगी। तो, कुछ ही समय के उपरान्त, चन्दनबाला ने भी क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो, गहरे पश्चाताप की तीव्र ज्वाला में अपने घातिक कर्म को नष्ट कर दिया।

और वह केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वाङ्ग-पूर्ण हो गई।

फिर बहुत समय तक केवलज्ञान-प्राप्त महासती चन्दन बाला अपनी शिष्याओं के साथ संसार का कल्याण करती हुई सर्वत्र विचरण करती रहीं—और अन्त में अपने इस भौतिक शरीर का त्याग कर वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो गईं। मोक्ष को प्राप्त कर वह आत्मा से परमात्मा बन गईं।

मगर कल्याणी महासती चन्दनबाला को यह संसार आज भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है—और अपार श्रद्धा में भर वह कह उठता है—

"महासती चन्दनबाला की जय"

और उसके ये शब्द सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में गूँज जाते हैं।